इकाई –9 अष्टांग योग का स्वरूप

9.1 प्रस्तावना
9.2 उद्देश्य
9.3 अष्टांग योग का स्वरूप
9.4 यम
9.4.1 अहिसा
9.4.2 सत्य
9.4.3 अस्तेय
9.4.4 ब्रह्मचर्य
9.4.5 अपरिग्रह
9.5 नियम
9.5.1 शौच
9.5.2 सन्तोष
9.5.3 तप
9.5.4 स्वाध्याय
9.5.5 ईश्वर प्रणिधान
9.6 आसन
9.7 प्राणायाम
9.8 प्रत्याहार
9.9 धारणा
9.10 ध्यान
9.11 समाधि
9.12 अष्टांग योग का महत्व एवं अन्य विद्वानों की व्याख्या
9.13 सारांश
9.14 पारिभाषिक शब्दावली
9.15 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर
9.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
9.17 सहायक उपयोगी पाठ्य सामाग्री
9.18 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग का उपयोग मुख्यतः चित्त की वृत्तियों को अर्थात् मन को नियन्त्रित करने के लिए किया जाता है। अष्टांग योग के अभ्यास से मनुष्य न केवल शारीरिक चेष्टाओं, किन्तु मन की नाना प्रकार की वृत्तियों पर भी अपना नियन्त्रण कर लेने में समर्थ हो जाता है। योग दर्शन के व्याख्याकारों ने योग साधक को तीन श्रेणियों उत्तम, मध्यम और निम्न में विभाजित किया है। उत्तम कोटि के साधक के लिए राजयोग, मध्यम कोटि के क्रियायोग एवं निम्न कोटि के लिए अष्टांग योग बताया है। महर्षि पतंजलि ने तीनों तरह के साधकों के लिए अलग–अलग तरह की साधनाएँ बतायी हैं। विक्षिप्त चित्त कोटि के साधकों के लिए अष्टांग योग महर्षि पतंजलि ने बताया है। विक्षिप्त चित्त वाले निम्न अधिकारी जिनका चित्त सांसारिक वासनाओं तथा राग–द्वेष आदि से कलुषित है, उनके लिए अभ्यास और वैराग्य का होना कठिन है, उनका चित्त भी शुद्ध होकर अभ्यास और वैराग्य का संपादन कर सके, इस अभिप्राय से योग के आठ अंगों की चर्चा महर्षि पतंजलि करते हैं।

विवेकख्याति की प्राप्ति हेतु अष्टांग योग का वर्णन महर्षि पतंजलि ने साधन पाद के अंतर्गत किया है। अष्टांग योग को राजयोग साधना भी कहते हैं। अष्टांग योग के अभ्यास द्वारा अशुद्धियाँ तब तक कम होती जाती हैं जब तक कि आध्यात्मिक ज्ञान का प्रकाश उपलब्ध नहीं होता है। अष्टांग योग के अभ्यास से मन और बुद्धि से मल, विक्षेप और आवरण हटते जाते हैं, वैसे–वैसे आध्यात्मिक आलोक की उपलब्धि प्राप्त होती जाती है। आध्यात्मिक उन्नति की सबसे बड़ी बाधा अविद्या है। अविद्या से अस्मिता, अस्मिता से राग, राग से द्वेष और द्वेष से अभिनिवेश, अभिनिवेश से सकाम कर्म, उनकी वासनाओं से जन्म, आयु, भोग एवं उनमें सकाम कर्मों के पाप–पुण्य के आधार पर सुख–दुःख आदि प्राप्त होते हैं। उन समस्त विकारों की निवृत्ति हेतु महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग को प्रमुख साधन माना है। अष्टांग योग के विभिन्न अंगों का अभ्यास योग साधक को साधना करने के लिए आवश्यक है। इससे शरीर, मन की अशुद्धियाँ दूर होती हैं और क्रमशः अभ्यास से आध्यात्मिक उपलब्धियों की प्राप्ति होने लगती है।

9.2 उद्देश्य

इस ईकाई के अध्ययन के पश्चात आपको यह ज्ञात हो जायेगा कि’

- अष्टांग योग के कौन–कौन से अंग हैं ?
- अष्टांग योग का महत्व क्या है ?
- अष्टांग योग के अभ्यास का क्या परिणाम है ?
- अष्टांग योग के संदर्भ में अन्य व्याख्याकारों का मत क्या है ?

9.3 अष्टांग योग का स्वरूप

विद्वानों ने अष्टांग योग में वर्णित साधनों को बहिरंग और अंतरंग साधनों के रूप में विभाजित किया है। यह सभी आठ अंग अन्योन्याश्रित तथा समान महत्व के हैं। प्रथम पाँच अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार बहिरंग साधन अथवा बहिरंग योग कहलाते हैं। अन्य तीन धारणा, ध्यान तथा समाधि को अंतरंग साधन या अंतरंग योग कहते

हैं। बहिरंग साधन का तात्पर्य उन अभ्यासों से है जिनका लक्ष्य शरीर, समाज तथा अन्य विषयों के संदर्भ में होता है। अंतरंग साधनों का उद्देश्य एवं लक्ष्य आत्मचिन्तन होता है। बहिरंग साधनों का लक्ष्य वस्तुनिष्ठ होता है परन्तु अंतरंग साधनों का लक्ष्य आत्मनिष्ठ होता है। महर्षि पतंजलि अष्टांग का वर्णन इस प्रकार से करते हैं–

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।। पांतजल योग सूत्र 2/29

अर्थात यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के आठ अंग हैं।

योग के विभिन्न अंगों के महत्व को क्रमानुसार हम यहाँ समझ सकते हैं–

1. यम – सर्वप्रथम व्यवहारिक जीवन को 'यम' के द्वारा सत्वगुण युक्त पवित्र बनाना पड़ता है, क्योंकि जिससे सकाम कर्म जन्म, मृत्यु, भोगों की प्राप्ति होती है, वे सब इससे समाप्त (नष्ट) हो जाते हैं।

2. नियम – नियम द्वारा शरीर, इन्द्रियाँ, अंतःकरण के रजस एवं तमस मल–विक्षेप आदि विनष्ट होकर अर्थात समाप्त होकर सत्वगुण सम्पन्न पूर्ण परिष्कृत हो जाते हैं।

3. आसन – आसन के अभ्यास द्वारा शरीर की रजोगुणी रूपी चंचलता, अस्थिरता, तमरूपी आलस्य आदि विकार समाप्त होकर सात्विक दिव्यता प्राप्त होती है।

4. प्राणायाम – प्राणायाम के द्वारा मन का निरोध शीघ्रातिशीघ्र होता है और साथ ही शरीर और मन निरोगी होता है।

5. प्रत्याहार – प्रत्याहार द्वारा एकादश इन्द्रियों की आलस्य–प्रमाद रूपी अज्ञानता समाप्त हो जाती है।

6. धारणा – धारणा द्वारा चित्त में स्थित मूढ़ता एवं क्षिप्त रूपी अज्ञानता को समाप्त किया जाता है तथा सात्विक रूप वृत्ति को किसी एक विषय में केन्द्रित कर दिव्यता की प्राप्ति की जाती है।

7. ध्यान – ध्यान द्वारा चित्त में स्थित रजस, तमस रूप गुणों के वेगों–विकारों का शमन सम्यक् रूप से हो जाता है।

8. समाधि – समाधि की स्थिति में ध्येय से रजोगुण को और ध्यान से तमोगुण के अवशेष को समाप्त कर दिया जाता है। इस प्रकार पवित्र सात्विक चित्त इन भावों से रहित होकर एकमात्र ध्येय के आकार के समान हो जाता है।

उपरोक्त अष्टांग योग के अगों को महर्षि पतंजलि के अनुसार वर्णित क्रम में निम्न प्रकार समझ सकते हैं –

9.4 यम

यम पातंजल अष्टागं योग का प्रथम अंग है। महर्षि पतंजलि के अनुसार –
''आहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'' ।। पांतजल योग सूत्र 2/30
अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रहम्चर्य और अपरिग्रह – ये पांच यम बताये है।

यम के इन अंगों का अर्थ और व्यावहारिक महत्व इस प्रकार है–

9.4.1 अहिसा

मनसा, वाचा, कर्मणा किसी भी प्राणी को कभी भी– किसी प्रकार का दुःख न देना अहिंसा है। इसके अभ्यास से एक व्यापक प्रेम तथा भाई–चारे की भावना का विकास होता है, जो चित्त की शुद्ध करता है। घृणा की भावना का बहिष्कार भी अहिंसा का ही अंग है। महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा को ही अपने दर्शन का आधार बनाया । उनके सर्वोदय तथा सत्याग्रह के मार्ग में सत्य और अहिंसा महत्वपूर्ण है। इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि मात्र अहिंसा के माध्यम से ही चित्त की शुद्धता और भावनाओं को परिष्कृत किया जा सकता है।

9.4..2 सत्य

यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि सत्य पर ही अन्य यम तथा नियमों का पालन निर्भर है। महात्मा गांधी ने सत्य को विशेष बल और सत्य को ही अपनी कार्य–पद्धति का आधार बनाया । उनके अनुसार सत्याग्रही व्यक्ति का समाज सत्याग्रह के माध्यम से सर्वोदय के पथ पर अग्रसर हो सकता है। सत्य के माध्यम से हम अपनी वाणी को संयमित और पवित्र बना सकते हैं।

9.4.3 अस्तेय

अस्तेय का तात्पर्य है दूसरे के धन, वस्तु या विचारों का अपने हित मे ंप्रयोग की प्रवृति से विरत होना। अस्तेय से व्यक्तिगत चित्तशुद्धि के अतिरिक्त व्यापक सामाजिक तनाव भी कम होता है। अर्थात् दूसरों के वैभव–ऐश्वर्य को देखकर हमारे अंदर ईर्ष्या, द्वेष अथवा लोभ का भाव न आना। अस्तेय के माध्यम से हम इस प्रकार की मानसिक दुर्भावनाओं से दूर रहते हैं।

9.4.4 ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य स्वधर्म से विरत न होने का बोधक है। यह केवल मात्र मैथुनकर्म से विरत होना नहीं है। परन्तु मैथुन कर्म से विरत रहना बह्मचर्य का एक महत्वपूर्ण अंग अवश्य है। क्योंकि यह साधक के मन व शरीर की शुद्धि के साथ–साथ उसे सामाजिक तथा शारीरिक दृष्टि से सबल रखता है, ताकि साधना के पथ पर वह कुशलता से अग्रसर हो सके।

9.4.5 अपरिग्रह

अपने स्वार्थ के लिए ममतापूर्व धन, सम्पत्ति और भोग सामग्री का संचय करना 'परिग्रह' है इसके अभाव का नाम 'अपरिग्रह' है। अपरिग्रह अर्थात् आवश्यकता अनुसार ही भौतिक साधनों का संचय व उपयोग करना। समाज की प्रगति के लिए एक बात यह भी आवश्यक है कि सभी मनुष्यों को कार्य करके उचित रीति से जीवन निर्वाह कर सकने का मौका दिया जाय। मनुष्य अपनी सम्पत्ति पर अधिकार रखकर उसका उपयोग करता रहे, इसमें कोई एतराज की बात नहीं पर उसे यह भी ख्याल रखना चाहिए कि दूसरे व्यक्तियों को भी सामाजिक सम्पत्ति में उचित भाग मिल सके और वे भी निर्वाह कर सकें।

इस प्रकार पांच प्रकार के यमों का पालन करने के रूप में योग दर्शन ने उन कर्तव्यों की शिक्षा दी है जिसके बिना समाज का अस्तित्व तथा सुस्थिरता कायम नहीं रह सकती और

आध्यात्मिक उन्नति तो क्या मनुष्य साधारण रूप से जीवन निर्वाह कर सकने, शान्तिपूर्वक खा सकने तथा सो सकने में असमर्थ हो जायेगा। ये पांचों कर्तव्य या व्रत ऐसे है जो प्रत्येक सभ्य व्यक्तियों के लिए पालन करने आवश्यक है।

उपरोक्त वर्णन से आप समझ गये होगें कि यम का क्या अर्थ एवं महत्व है। यम के पश्चात महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित नियम को हम इस प्रकार समझ सकते हैं–

9.5 नियम

नियम पातंजल अष्टागं योग का द्वितीय अंग है। महर्षि पतन्जलि के अनुसार –

''शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः''।। पांतजल योग सूत्र 2/32

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान–ये पांच नियम बताये हैं। नियम के इन अंगों का अर्थ और व्यावहारिक महत्व इस प्रकार है–

9.5.1 शौच

शौच का तात्पर्य है जीवन के शारीरिक या मानसिक क्रिया–कलाप के प्रत्येक क्षेत्र में शुद्धता का अभ्यास। शरीर, वस्त्र और आवास आदि के मल को दूर करना बाह्य शुद्धि है। वर्णाश्रम और योग्यतानुसार प्रमाणपूर्वक अन्न, धन आदि पवित्र व्यवहार करना भी ब्राह्य शुद्धि ही है। जप, तप और शुद्ध विचारों द्वारा तथा मैत्री आदि की भावना से अन्तःकरण के राग द्वेषादि मलों का नाश करना आभ्यन्तर शौच है।

9.5.2 सन्तोष

शौच के बाद सन्तोष दूसरा नियम है। कर्तव्य–कर्म का पालन करते हुए उसका जो परिणाम हो तथा प्रारब्ध के अनुसार स्वयं जो कुछ प्राप्त हो तथा जिस परिस्थिति में रहना पड़े, उसी से सन्तुष्ट रहना और अन्य किसी प्रकार की कामना न करना 'संतोष' है। संतोष के माध्यम से व्यक्ति के जीवन में शांति और सुख का आगमन होता है।

9.5.3 तप

इसका शाब्दिक अर्थ है–तपाना, जलाना, चमकाना, कष्ट सहनाा अथवा उष्णता से जलना। इसलिए इसका अर्थ है, जीवन में एक निश्चित ध्येय की प्राप्ति के लिए किन्ही भी स्थितियों में सतत एवं अथक प्रयत्न। इसमें पवित्रता, आत्मसंयम और कठिन तपस्या समाविष्ट है। महयोगी तप से शरीर, मन और चरित्र की शक्ति का विकास करते हैं। वह साहस, ज्ञान, स्थिरता, और सादगी प्राप्त करता है। तप दिव्यात्मा से अंतिम मिलन की प्राप्ति का और इस उद्देश्य के मार्ग में बाधक बननेवाली सभी कामनाओं को जलाने का जागृत प्रयत्न है। तप के बिना जीवन प्रेमहीन हृदय के समान है। तप के बिना चित्त परमात्मा तक पहुँच नहीं सकता है।

9.5.4 स्वाध्याय

स्व का अर्थ है स्वयं और अध्याय का अर्थ है अध्ययन करना। व्यक्ति के अन्दर जो उत्तम है उसे प्रकट करना शिक्षण है। इसलिए स्वाध्याय आत्मअध्ययन है। यह अपनी जीवन दशा का उचित मूल्यांकन एवं जीवन का सही दिशा निर्धारण है। स्वस्थ, प्रसन्न एवं शान्त जीवन बनाने के लिए पवित्र स्थान में दिव्य (धार्मिक) ग्रंथों का नियमित अध्ययन आवश्यक है। संसार के धार्मिक ग्रंथों का यह अध्ययन साधक को ध्यान केन्द्रित करने में और जीवन की कठिन समस्याओं, जब वे उपस्थित होगी, के सुलझाने में समर्थ बनाता है। यह अज्ञान को

मिटाकर ज्ञान को सुलभ कराता है। उन्नत विचार जो स्वाध्याय से निकलते है वे व्यक्ति के दृष्टिकोण को परिवर्तित करते हैं जिससे वे व्यक्ति के जीवन और अस्तित्व के अंग हो सकें।

9.5.5 ईश्वर प्रणिधान

ईश्वर प्रणिधान का तात्पर्य है कि ईश्वर के पूर्ण भक्ति भावपूर्वक आत्म समर्पण सहित उपासना। इसका सही–सही अभ्यास वस्तुतः अविद्याादि पंचक्लेषों का मूलोच्छेदन करते हुए मानसिक शांति एवं व्यक्तित्व संगठन का ठोस आधार बनाता है।

9.6 आसन

आसनों का पूर्ण वर्णन हठयोग से ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है। हठयोग प्रदीपिका में आसन का योगाभ्यास में प्रथम स्थान है। हठयोग में आसनों के अनेक भेद बतलायें गये हैं, परन्तु योगसुत्रकार महर्षि पतंजलि के अनुसार–

''स्थिरसुखमासनम्'' ।। पांतजल योग सूत्र 2/46

अर्थात् स्थिर होकर सुखपूर्वक बैठनै का नाम आसन है। अपनी आवश्यकता के अनुसार जिस भी विधि से स्थिरभाव सुखपूर्वक बैठ सके, वही आसन है। आसनों का अभ्यास शारीरिक एवं मानसिक विकास तथा, व्याधि–निवारण, हेतु बताया गया है। इसी कारण से आधुनिक समाज में आसनों का अभ्यास दैनिक जीवन के तनाव को कम करने के किया जाता है।

9.7 प्राणायाम

प्राणायाम का अर्थ है–प्राण का विस्तार करना। स्थूल रूप में यह जीवनी शक्ति प्राण से संबंधित है। योगसुत्रकार महर्षि पतंजलि के अनुसार–

''तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासंयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः''।। पांतजल योग सूत्र 2/49

अर्थात् उस आसन की सिद्धी होने के बाद श्वास और प्रश्वास की गति का स्थिर हो जाना प्राणायाम कहलाता है। प्राणायाम के तीन अंग हैं, पूरक–श्वास को अंदर खींचना, कुंभक–श्वास को रोकना तथा रेचक–श्वास को बाहर छोड़ना। फिर भी इसका प्रयोग विशिष्ट ढंग से क्रमबद्ध शरीर–क्रियात्मक विकास तथा मनोदैहिक विश्रांति के लिए करते हैं। विभिन्न प्रायौगिक अध्ययनों में प्राणायाम से अंतःस्रावी ग्रंथियों तथा चयापचयात्मक क्रियाओं में विकास, हृदय तथा फेफड़ों की क्रिया में सुधार के लक्षण देखे गये हैं। महर्षि पतंजलि के अनुसार प्राणायाम केवल श्वसनिक व्यायाम ही नहीं अपितु एक विशिष्ट प्रकार की विधि है, जिससे शारीरिक तथा मानसिक स्वस्थता का अनुभव होता है। प्राणायाम चित्त की एकाग्रता एवं स्थिर दृढ़ता प्रदान करने वाली विज्ञानसम्मत यौगिक विद्या है।

9.8 प्रत्याहार

वस्तुतः पतंजलि के अष्टांगयोग में प्रत्याहार अन्तरंग तथा बहिरंग अवस्थाओं में सेतु रूप है। महर्षि पतंजलि के अनुसार –
''स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः''।। पांतजल योग सूत्र 2/54

अर्थात् अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर इंद्रियों का जो चित्त के स्वरूप में तदाकार हो जाता है, वह प्रत्याहार है। प्रत्याहार स्वनियन्त्रण की प्रक्रिया है, जिसका अर्थ अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से पृथक रखना है। प्रत्याहार मनोनिरोध एवं इन्द्रिय–व्यापार से मन को अलग करने की प्रक्रिया है। वस्तुतः प्रत्याहार द्वारा योगी अपने मन को स्वयं में केन्द्रित कर इसे इन्द्रियों द्वारा प्राप्त तरंगों से पृथक कर लेता है। व्यावहारिक रूप से प्रत्याहार जीवन के अवांछनीय प्रवाह से स्वयं को समेटने व आत्मान्मुख करने का अभ्यास है। प्रत्याहार सिद्ध होने पर साधक अपनी इन्द्रियों, विचारों एवं भावनाओं पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है।

9.9 धारणा

धारणा पतन्जलि के अष्टांग योग में छठे, अंग के रूप में वर्णित है। पतंजलि ने धारणा को अन्तरंगयोग मानते हुए संयम का अंग माना है। महर्षि पतंजलि के अनुसार –

''देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'' ।। पांतजल योग सूत्र 3/1

अर्थात् किसी एक देश में चित्त को स्थिर करना धारणा है। वस्तुतः यह एक प्रकार का मानसिक व्यायाम है, जो साधक को आगे ध्यान तथा समाधि के अभ्यास में समर्थ बनाता है। धारणा में भी वही साधक पूर्ण सफल होता है, जो बहिरंग योगाभ्यास के साथ–साथ प्रत्याहार का सफल अभ्यास कर रहा है। धारणा से मन की एकाग्रता व स्थिरता में वृद्धि होती है, जो कि व्यक्तित्व विकास हेतु अनिवार्य घटक है। इस तरह धारणा व्यक्तित्व के संगठन को सुदृढ़ बनाने में सहायक है।

9.10 ध्यान

धारणा के पश्चात् ध्यान की प्रक्रिया है। महर्षि पतंजलि के अनुसार –

''तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।'' ।। पांतजल योग सूत्र 3/2

अर्थात् उसी में वृति का एकाग्र होना ध्यान है। जहां चित्त को लगाया जाय उसी में वृति का लगातार एकाग्र होना ध्यान है। जब धारणाभ्यासी देश–विशेष में मन को लगाते हुए मन को ध्येय विषय पर स्थिर कर लेता है तो उसे ध्यान कहते हैं। यह समाधि–सिद्धि के पूर्व की अवस्था है। अर्थात जिस अवस्था में केवल ध्येय मात्र की ही वृति का प्रवाह बने तथा ध्याता व ध्येय के बीच में कोई भी दूसरी वृत्ति न उठे वही ध्यान है। वस्तुतः इसका अभ्यास मानवीय चेतना के सभी स्तरों को प्रकाशित करता है तथा चेतना को परिष्कृत करता है। यह चेतन मन को जाग्रत करने की प्रक्रिया है तथा अचेतन मन की दबी हुई ग्रंथियों का निराकरण कर चेतना की उच्च अवस्था तक पहॅचाने की विधि है। इस तरह ध्यान के द्वारा समूचा मन सशक्त तथा संगठित होता है।

9.11 समाधि

समाधि अष्टांगयोग का आठवां तथा अन्तिम लक्ष्य है। प्रायः योग की सभी विचारधाराओं में समाधि को अन्तिम लक्ष्य स्वीकार किया गया है। यह मन की समस्त वृत्तियों के निरोध या विनाश की अवस्था है। महर्षि पतंजलि के अनुसार –

''तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः'' ।। पांतजल योग सूत्र 3/3

अर्थात् जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीत होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाता है, तब वही (ध्यान ही) समाधि हो जाता है। अर्थात् ध्यान करते करते जब चित्त ध्येयकार में परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव सा हो जाता है। और उसको ध्येय से भिन्न उपलब्धि नहीं होती; उस समय उस ध्यान का नाम ही समाधि हो जाता है।

धारणाभ्यास में बाह्यकर्षण कम हो जाते है और ध्यान की अवस्था में निजस्वरूप का आभास की आवृति कम होते होते समाधि अवस्था में पहुँचने तक चेतना पूर्णरूप से अहं तथा अन्य विकारों से रहित हो जाती है और चेतना के क्षेत्र में ध्येय मात्र शेष रह जाता है। इस स्थिति में किसी तरह की तनाव, द्वन्द्व आदि की ग्रंथियां नहीं रहते। यह मानसिक स्वास्थ्य संतुलन एवं कार्यक्षमता की चरम अवस्था है और भारतीय चिंतन में जीवन का परम एवं चरम ध्येय भी है।

9.12 अष्टांग योग का महत्व एवं अन्य विद्वानों की व्याख्या

अष्टांग योग के अभ्यास से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति होकर क्रम से पंचविभाग वाली अविद्या नष्ट होती है। अविद्या के नाश हो जाने से तज्जन्य अंतःकरण की अपवित्रता का क्षय होता है और आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। जैसे–जैसे साधक योगांगों का आदरपूर्वक अनुष्ठान करता है, वैसे–वैसे ही उसके चित्त की मलिनता का क्षय होता है और मलिनता क्षय के परिणाम में उसके चित्त में ज्ञान की उत्कृष्टता होती जाती है।
महर्षि पतंजलि ने यही बात अपने योगदर्शन में कही है–

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।। पांतजल योग सूत्र 2/28

अर्थात योग के अंगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का क्षय होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति पर्यन्त हो जाता है।
अष्टांग योग के महत्व के सन्दर्भ में अन्य विद्वानों की व्याख्या इस प्रकार है–
महर्षि व्यास के अनुसार –
योगाङ्गानि अष्टावभिधायिष्यमाणानि; तेषामनुष्ठानात् पंचपर्वणो विपर्ययस्याशुद्धिरूपस्य क्षयः नाशः।। तत्क्षये सम्यक्ज्ञानस्याभिव्यक्तिः।। व्यासभाष्य 2/28

अर्थात योग के आठ अंगों के अनुष्ठान करने से, निरन्तर अभ्यास करने से अशुद्धि रूप पांचों क्लेश रूपी मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाता है और उस मिथ्या ज्ञान रूपी अशुद्धि के क्षीण हो जाने पर तत्वज्ञान की अभिव्यक्ति होती है।
आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार –योगांगों का सम्यक रूप से अनुष्ठान करने अर्थात अभ्यास द्वारा आचरण में लाने से चित्त के क्लेश (मल) रूपी विकार नष्ट हो जाते हैं और ज्ञान का प्रकाश प्रकट हो जाता है अर्थात चित्त निर्मल हो जाता है। उस समय योगी/साधक के ज्ञान का आलोक विवेकख्याति तक पूर्ण रूप से प्रसृत हो जाता है अर्थात वह विवेकख्याति (ज्ञान का आलोक) उसे (साधक को) आत्मा का स्वरूप, बुद्धि, अहंकार एवं इन्द्रियों से सदैव पृथक प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होता है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार

योग के विभिन्न अंगों का अनुष्ठान करते–करते जब अपवित्रता का नाश हो जाता है तब ज्ञान प्रदीप्त हो उठता है, उसकी अंतिम सीमा है विवेकख्याति।

स्वामी ओमानंद तीर्थ के अनुसार–

योग के आठ अंगों के अनुश्ठान से क्लेष रूपी अषुद्धि दूर होती है और सम्यक ज्ञान का प्रकाष बढ़ता है। इन अंगों का अनुश्ठान जितना–जितना बढ़ता जाता है उतनी ही क्लेष की निवृत्ति और ज्ञान के प्रकाष की अधिकता होती जाती है। यह ज्ञान के प्रकाष की वृद्धि 137ववकेख्याति पर्यनत पहुँच जाती है।

स्वामी हरिहरानंद आरण्य के अनुसार–

क्लेश समूह या अविद्यादि पांच प्रकार के अज्ञान प्रबल रहने से भी श्रुतानुमानजनित विवेकज्ञान होता है। परन्तु योग साधन द्वारा उन सब अज्ञान संस्कारों की जितनी क्षीणता होती रहती है उतनी ही विवेकज्ञान की प्रस्फुटता होती है। तदुपरान्त समाधि लाभपूर्वक सम्प्रज्ञात समापत्ति में सिद्ध होने पर विवेक की भी पूर्ण ख्याति होती है।

महर्षि दयानन्द के अनुसार

योग के आठ अंगों के अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

आचार्य राजवीर शास्त्री के अनुसार

योग के आठ अंगों के अनुष्ठान करने से चित्त के दोष क्षीण होने लगते हैं और उत्तरोत्तर ज्ञान की वृद्धि होने लगती है। यह ज्ञान वृद्धि विवेकख्याति तक होती रहती है।

अभ्यास प्रश्न

1. अष्टांग योग के कुल कितने अंग हैं–
   क. 18 ख. 28 ग. 8 घ. 88
2. अष्टांग योग का उद्देश्य है–
   क. विवेक प्राप्ति ख. विवेक शुद्धि ग. विवेक ख्याति घ. विवेक बुद्धि
3. अष्टांग योग के अंतरंग साधन हैं–
   क. यम–नियम ख. आसन–प्राणायाम ग. षटकर्म–ध्यान घ. धारणा–ध्यान
4. अष्टांग योग के बहिरंग साधन हैं–
   क. समाधि–संयम ख. आसन–प्राणायाम ग. षटकर्म–ध्यान घ. धारणा–ध्यान
5. प्रत्याहार का अर्थ है–
   क. इन्द्रियों का अन्तर्मुखी होना
   ख. आहार को त्यागना
   ग. इन्द्रियों का बहिर्मुखी होना
   घ. सभी को आहार देना

9.13 सारांश

अष्टांग योग के ये अंग ऐसे उपाय हैं जिनसे शारीरिक तथा मानसिक विकास होता है। वास्तव में अष्टांग योग का प्रत्येक अंग पृथक रूप से योग के अभ्यास में एक–एक सीढ़ी की तरह हैं जो कि जीवन के लिए एक उपयोगी व श्रेष्ठ साधन है। इस अध्याय में हमने अष्टांग योग के महत्व और उसके स्वरुप का अध्ययन किया। योग की पूर्ण साधना के लिए इन आठों अंगों का क्रमशः अभ्यास आवश्यक है। क्रमशः एक–एक अंग पर पूर्ण अधिकार हो जाने पर ही अग्रिम योगांगों में प्रवृत्ति होती हैं। इन अष्टागों में से प्रथम दो (यम–नियम) प्रधानतः आचार–सम्बन्धी अभ्यास है, उसके बाद के दो अंग (आसन–प्राणायाम) शरीर को

भौतिक रूप से योगाभ्यास योग्य बनाने के उपाय हैं। पांचवा अंग प्रत्याहार प्रधानतः इन्द्रियानिग्रह का उपाय है और उसके बाद की प्रक्रियाएँ (धारण, ध्यान तथा समाधि) पूर्ण रूप से मानसिक तथा आध्यात्मिक नियमन की साधनाएँ है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार को बहिरंग योग कहा जाता है और इसके विपरीत धारणा, ध्यान एवं समाधि को अन्तरंग योग कहा जाता है। ये तीनों संयुक्त रूप से 'संयम' कहलाते हैं। प्रत्याहार अन्तरंग तथा बहिरंग योग के बीच की एक महत्वपूर्ण कडी है। बिना प्रत्याहार के अन्तरंग योग में प्रवृति नहीं हो सकती। अष्टांग योग के ये सभी साधन परस्पर अन्योन्याश्रित होते हैं जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि सभी अंगों का महत्व एवं उपयोग पारस्परिक निर्भर है। अतः अष्टांग योग योगसाधना हेतु महत्वपूर्ण एवं व्यावहारिक विधि है।

9.14 पारिभाषिक शब्दावली

क्लेश– ऐसी समस्याऐं जिसके कारण जीवन के समस्त दुख उत्पन्न होते हैं।

अन्तरंग साधन – ऐसे साधन जिनका प्रभाव सीधा मानसिक, भावनात्मक एवं आत्मिक होता है।

बहिरंग साधन – ऐसे साधन जिनका प्रभाव सीधा व्यवहारिक एवं शारीरिक होता है।

विवेकख्याति – विवेकख्याति की प्राप्ति होने पर आत्मा का स्वरुप, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न प्रत्यक्ष ज्ञात होता है।

संस्कार– स्वंय के द्वारा किये गये कार्यों (वर्तमान एवं भूत) से संचित अनुभव।

श्रुतानुमानजनित – सुने हुए एवं अनुमान से ज्ञात ज्ञान।

आत्मनिष्ठ – पूर्णतः व्यक्तिगत् विषय केवल स्वंय से सम्बन्धित।

वस्तुनिष्ठ – समूह से सम्बन्धित एवं सभी के लिए एक समान प्रभाव वाला।

अन्तःकरण – इन्द्रिय, मन और आत्मा से सम्बन्धित।

ध्येय – ध्यान का विषय ही ध्येय है।

9.15 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

उत्तर– 1. ग, 2. ग, 3. घ, 4. ख, 5. क।

9.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, सांख्य दर्शन एंव योग दर्शन, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, वेद विभाग, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार, 2000.
- आचार्य राजवीर शास्त्री, पांतजल योगदर्शन– भाष्यम्, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, 455, खारी बावली, दिल्ली–6.
- आरण्य स्वामी हरिहरानन्द, पांतजल योगदर्शनम्, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली,2000.
- कुमारी पवन, विज्ञानभिक्षु प्रणीत योगसारसंग्रह, ईस्टर्न बुक लिकंर्स, दिल्ली,1981.
- चन्द्र त्रिलोक, पांतजलयोग और श्री अरविन्दयोग, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली,1992.
- तीर्थ श्रीस्वामी ओमानन्द, पांतजलयोगप्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर,2005.
- विवेकानन्द स्वामी, विवेकानन्द साहित्य, खण्ड–1, स्वामी स्वानन्द, अद्वैत आश्रम, मायावती, पिथैरागढ़–पुनमुद्रित, 2000.

- सरस्वती स्वामी दिव्यानन्द, वेदों में योग विद्या, यौगिक शोध सस्थांन, योगधाम, आर्यनगर, हरिद्वार,1999.

9.17 सहायक उपयोगी पाठ्य सामाग्री

- सरस्वती स्वामी सत्यानन्द, मुक्ति के चार सोपान, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार.
- तीर्थ श्रीस्वामी ओमानन्द, पांतजलयोगप्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर.
- गोयन्दका हरिकृष्णदास, पातंजल योग दर्शन, (साधारण हिन्दी–व्याख्या सहित), गीता प्रेस, गोरखपुर.
- .विवेकानन्द स्वामी, विवेकानन्द साहित्य, खण्ड–1, स्वामी स्वानन्द, अद्वैत आश्रम, मायावती, पिथैरागढ.
- आरण्य स्वामी हरिहरानन्द, पांतजल योगदर्शनम्, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, सांख्य दर्शन एंव योग दर्शन, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, वेद विभाग, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार.
- पण्डया डॉ. प्रणव, अर्न्तजगत की यात्रा का ज्ञान विज्ञान, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार
- श्रीवास्तव सुरेशचन्द्र, पांतजलयोगदर्शन, चौखम्भा सुभारती प्रकाशन, वाराणसी.
- आचार्य उदयवीर शास्त्री, योगदर्शनम् – विद्योदयभाष्यम्, विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द, 4408, नई सड़क, दिल्ली–6.

9.18 निबंधात्मक प्रश्न

1. अष्टांग योग से आप क्या समझते हैं ?
2. महर्षि पतंजलि के अनुसार अष्टांग योग की विस्तृत व्याख्या कीजीए।
3. अष्टांग योग का महत्व स्पष्ट कीजीए।
4. अंतरंग एवं बहिरंग साधन से आप क्या समझते हैं ?

इकाई–10 यम एवं नियम

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 यम का स्वरूप

- 10.3.1 अहिंसा
- 10.3.2 सत्य
- 10.3.3 अस्तेय
- 10.3.4 ब्रह्मचर्य
- 10.3.5 अपरिग्रह
- 10.3.6 महाव्रत का स्वरूप

10.4 नियम का स्वरूप

- 10.4.1 शौच
- 10.4.2 संतोष
- 10.4.3 तप
- 10.4.4 स्वाध्याय
- 10.4.5 ईश्वर प्रणिधान

10.5 प्रतिपक्ष भावना एवं वितर्क

10.6 सारांश

10.7 पारिभाषिक शब्दावली

10.8 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

10.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

10.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामिग्री

10.11 निबंधात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

यम–नियम अष्टांग योग के सबसे महत्वपूर्ण अंग है। महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंगों में सबसे प्रथम स्थान पर इसे ही रखा है। इसे योग का प्रथम सोपान माना जाता है। यम–नियम राजयोग साधना के प्रारम्भिक और महत्वपूर्ण अंग हैं। इनका पालन किए बिना राजयोग की साधना अंसभव है।

योग दर्शन में अष्टांग योग के अंतर्गत इसका वर्णन बहुत विस्तार से हुआ है। अष्टांग योग का महत्व यम–नियमों के कारण ही हैं। यम–नियम का पालन योग में आवश्यक है तथा समाज व्यवस्था को सुदृढ़ रखने में भी इसका महत्वपूर्ण स्थान है। इसलिए स्वामी विवेकानन्द ने इन्हें चरित्र निर्माण की आधारशिला कहा है एवं स्वामी शिवानन्द ने योग की आधारशिला कहा है। अष्टांग योग में वर्णित यम–नियम अत्यंत महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, इसलिए इन्हें पहले व दूसरें अंग के रूप में रखा गया है। साधन का मूल तत्व अथवा सार यम – नियम में ही मिलता है।

यम का पालन करने के रूप में योग–दर्शन ने उन कर्तव्यों की शिक्षा दी है जिनके बिना समाज का अस्तित्व तथा सुस्थिरता कायम नहीं रह सकती और आध्यात्मिक उन्नति तो क्या मनुष्य साधारण रूप से जीवन निर्वाह नहीं कर सकते। यम ऐसे व्रत (कर्त्तव्य) है जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए पालन करने योग्य है यह सामाजिक सन्तुलन से सम्बन्धित हैं। नियमों का सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन से है। इसमें जिन ब्रतों (कर्त्तव्य) का पालन करने पर जोर दिया गया है वे सब ऐसे हैं जिनसे मनुष्य का जीवन वास्तव में सुखी और सन्तुष्ट बन सकता है। यम–नियम से संबंधित पातंजल योग सूत्र की विभिन्न टीकाएं एवं भाष्य जिन व्याख्याकारों ने की हैं उनमें से कुछ का वर्णन प्रस्तुत इकाई में किया गया है। महर्षि पतन्जलि ने अपने योग सूत्रों में यम–नियम के अंगों के स्वरुप का वर्णन नहीं किया है केवल उनके परिणामों का ही वर्णन है। हम यहाँ अन्य व्याख्याकारों के अनुसार यम–नियम के अंगों के स्वरुप को एवं महर्षि पतन्जलि के अनुसार इनसे प्राप्त होने वाले परिणामों को समझने का प्रयास करेगें।

10.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के सम्यक अध्ययन के बाद आप समझ सकेगे कि–

- यम के अंग क्या हैं ?
- महाव्रत का स्वरूप क्या है ?
- नियम के अंग क्या हैं ?
- वितर्क और प्रतिपक्ष भावना क्या है ?
- यम एवं नियम के फल क्या हैं ?
- अन्य व्याख्याकारों का यम–नियम के संदर्भ में क्या मत है ?

10.3 यम का स्वरूप

यम शब्द की उत्पत्ति यम उपरमे तथा यम बन्धने धातु से हुई है। उपरम का अर्थ है अभाव तथा बन्धन का अर्थ है किसी व्रत, नियम या अनुशासन में बंधना अर्थात स्वाभाविक हिंसा,

मिथ्या, मैथुन तथा परिग्रह का अभाव रूप अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का अनुशासन यम है। यम शब्द का एक अर्थ नियमन भी है। व्यापक रूप में इसका अर्थ ऐसा आत्मानुशासन है जिसके द्वारा मानव में अहं भाव और उसकी उत्तेजनाओं को विजित करके तथा शान्त करके उसे पूर्ण रूप से मिटा दिया जाए। वस्तुतः यम मानव के मौलिक कर्त्तव्य हैं जिनके आधार पर समाज टिका हुआ है। महर्षि पतन्जलि के अनुसार यम हम पूर्व के अध्याय में भी पढ़ चुके हैं जो इस प्रकार हैं –

''आहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'' ।। पांतजल योग सूत्र 2/30

अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रहम्चर्य और अपरिग्रह – ये पांच यम है। यम से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

विज्ञानभिक्ष के अनुसार –अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरग्रिह–ये संक्षेप में मनुष्यों को शुद्धि प्रदान करने वाले यम कहे गये हैं।
स्वामी हरिहरानंद के अनुसार –सत्यादि द्वारा लोभ, द्वेषादि स्वर्थपरतापूरक वृत्तियां क्षीण होती रहती हैं, इसलिए अन्य सब यम तथा नियमों का अनुष्ठान हमारे व्यवहार को निर्मल करता है।

यम को निम्नलिखित परिभाषाओं से आप और स्पष्टतः समझ सकते हैं–

यम्यते निम्यते चित्तम अनेन इति यमः।

अर्थात् जिससे चित्त का नियंत्रण किया जाए, वह यम है।

उपनिषद के अनुसार– उपनिषद में यम की परिभाषा निम्न प्रकार दी गयी है–

सर्व वहनोति ज्ञानेन्द्रियग्राम संयमः।

यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः।।

अर्थात यह सब ब्रह्म है, इस ज्ञान से इन्द्रियों का संयम करना ही यम कहलाता है। इसी का बारंबार अभ्यास करना चाहिए।

देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इति उच्यते बुधैः। –त्रिशिखिब्राह्मोपनिषद 2/28

अर्थात इन्द्रियों और देह में वैराग्य की भावना ही यम है, ऐसा बुद्धिमान लोग कहते हैं।

योगसुधा के अनुसार–

हिंसादिभ्यो निषिद्ध कर्मभ्यो योगिनः। यमयन्ति विर्क्तयन्ती यमाः।। योगसुधा 2/3

अर्थात जो हिंसादि कर्मों से हटाने वाले हैं, वे यम कहलाते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यम मानव के सामाजिक कर्त्तव्य हैं जिससे समाज व्यवस्था भली–भांति चलती रहती है। यम से संबंधित अंगों का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है–

10.3.1 अहिंसा–

अहिंसा का सामान्य अर्थ हिंसा न करना है अर्थात किसी प्राणी को मन, वचन, कर्म से पीड़ा न पहुंचाना। अहिंसा से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

व्यास भाष्य के अनुसार – अहिंसा सर्वथा (होना ही चाहिए, विकल्परहित) सर्वदा (हमेशा सर्वभूत सभी प्रणियों के प्रति), अविद्रोह की भावना से परे है।

आयुर्वेद ग्रन्थ के अनुसार – ''हिंसा तम का द्योतक है। यह अभिघात (चोट मारना) और प्रतिरोध को उत्पन्न करने वाला होता है। अतः इसे पापकर्म बताकर त्यागने का निर्देष है। – अष्टांग हृदय– 1/1/5

शाडिल्योपनिषद के अनुसार –

मनसा, वाचा कर्मणा कभी भी किसी प्राणी को कष्ट न देना अहिंसा है। 1/1/5

तत्वार्थ सूत्र के अनुसार – यह जैन दर्शन का ग्रन्थ है इसके अनुसार ''प्रमाद के योग से जीवमात्र के प्राणो का घात करना हिंसा कहलाता है। जैन दर्शन में दो प्रकार की हिंसा का उल्लेख है–

1)द्रव हिंसा – इसमें किसी जीव की शरीर से हत्या करना है।
2) भाव हिंसा – मन से किसी को पीड़ा पहुंचाना भी हिंसा है।

इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि मात्र अहिंसा के माध्यम से ही चित्त की शुद्धता और भावनाओं को परिष्कृत किया जा सकता है।

अहिंसा का परिणाम –

महर्षि पतंजलि अहिंसा का परिणाम बताते हुए स्पष्ट करते हैं कि–

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्धिौ बैरत्यागः।। पातंजल योग सूत्र 2/35

अर्थात् अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस योगी के निकट सब प्राणी बैर का त्याग कर देते हैं।

स्पष्ट है कि अहिंसा फल ऐसा होता है कि जिससे सभी प्राणी प्रेम करने लगते हैं। जो इस व्रत का पालन करते है। उसके पास सभी हिंसक प्राणी अपना बैर त्याग देते हैं।

10.3.2 सत्य –

सत्य को यथार्थ वचन द्वारा समझा जाता है। सत्य से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

स्वामी हरिहरानन्द के अनुसार, वाक्य को तद्नुरुप करने की चेष्टा ही सत्यसाधन है।

मनुस्मृति में कहा गया हैः–

सत्यं ब्रूयात प्रिंय ब्रुयान्न ब्रुयात सत्यमप्रियं।

प्रियं न नानृतं ब्रुयात एशं धर्म सनातनः।।

अर्थात् सत्य बोलो, प्रिय बोलो। अप्रिय सत्य नहीं बोलो एवं प्रिय असत्य भी नहीं बोलो, यही सनातन धर्म है।

सत्य के संबंध में वशिष्ठ संहिता में बतलाया गया हैः–

सत्यं भूतहितं प्रोक्तं यथा न्यायाभिभाषणं।

प्रियं च सत्यमित्युक्तं सत्यमेतद् प्रबीमितों।।

अर्थात् न्यायपूर्वक सत्य का कथन प्राणियों के लिए हितकारी बतलाया गया है। जो सत्य प्रिय होता है। वही सत्य कहलाता है।

स्वामी विवेकानन्द ने सत्य व्यवहार के लाभ के बारे में कहा है कि सत्यवान जो भी कहता है वह घटित हो जाता है। यदि किसी को श्राप देता है या परोपकारी कल्याणकारी वचन कहता है, वह फलित होता है। सत्य का आचरण हजार हाथियों जितनी शक्ति देता है।

सत्य का परिणाम–

सत्य के सिद्ध होने पर साधक की वाणी अमोघ हो जाती है, मुख से निकला हुआ प्रत्येक वचन सत्य हो जाता है। महर्षि पतंजलि सत्य का परिणाम बताते हुए स्पष्ट करते हैं कि–

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। पातंजल योग सूत्र 2/36

अर्थात् सत्य के पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाने पर क्रियाफल के आश्रय का भाव आ जाता है।

भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान– तीनों कालों में सत्यनिष्ठ योगी द्वारा ऐसी भावना धारण करने से कि असत्य वचन का प्रतिपादन नहीं करुँगा, तब उसका अन्तस् इतना निर्मल हो जाता है कि उसकी वाणी से वही बात निःसृत होती है, जो क्रियारुप में परिणत हो जाती है।

10.3.3 अस्तेय

स्तेय का सामान्य अर्थ चोरी करना है अतः अस्तेय का अर्थ चोरी न करना है। इसका प्रभाव व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन पर पड़ता है।

जो धर्मतः अप्राप्य होता है उस प्रकार के द्रव्य का ग्रहण स्तेय कहलाता है। पृथ्वी में कहीं पर भी गुप्त स्थल में स्थित सभी तरह के शोधित रत्न, वस्तु पदार्थ आदि उसके लिए प्रकट हो जाते है। किसी भी पदार्थ वस्तु पदार्थ के प्रति राग (आसक्ति) का होना भी स्तेय (चोरी) कहलाता है। इस तरह सभी तरह की चोरी की भावना स्तेय के अतंर्गत आता है तथा उसे न करना अस्तेय है। इसके माध्यम से व्यक्ति के व्यवहार की प्रमाणिकता सिद्ध होती है। अस्तेय से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–
व्यास भाष्य के अनुसार –

स्तेयमषास्त्रपूर्वक द्रव्याणां परतः स्वीकरणं, तत्प्रतिशेधः पुनरस्पृहारुपमस्तेयामिति।''

स्तेय का अर्थ है, अशास्त्र पूर्वक दूसरे की वस्तु लेना, अस्तेय उसका निषेध रुप है, जो अस्पृहा रुप है।

स्वामी हरिहरानन्द के अनुसार – ''जो अदत्त या धर्मतः अप्राप्य होता है उस प्रकार के द्रव्य का ग्रहण स्तेय कहलाता है।''

आचार्य श्रीराम के अनुसार – किसी भी पदार्थ वस्तु पदार्थ के प्रति राग (आसक्ति) का होना भी स्तेय (चोरी) कहलाता है, तथा उसे न करना अस्तेय है।
इस तरह सभी तरह की चोरी की भावना स्तेय के अतंर्गत आता है तथा उसे न करना अस्तेय है।

अस्तेय का परिणाम –

अस्तेय के सिद्ध होने पर धन सम्पति आदि स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। साधक को सब दिशाओं में रहने वाली रत्नादि की समृद्धि प्राप्त होती है। महर्षि पतंजलि अस्तेय का परिणाम बताते हुए स्पष्ट करते हैं कि–

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। पातंजल योग सूत्र 2/37

अर्थात् चोरी न करने की दृढ़ स्थिति हो जाने पर सभी तरह के रत्न प्रकट हो जाते हैं।

अस्तेय का अभ्यास करने से पृथ्वी में कहीं पर भी गुप्त स्थ्ल में स्थित सभी तरह के वांछित रत्न, वस्तु–पदार्थ आदि अभ्यासकर्ता के लिए प्रकट हो जाते है।

10.3.4 ब्रह्मचर्य–

ब्रह्मचर्य शब्द 'ब्रह्म+चर्या' से बना है जिसका सामान्य अर्थ है ब्रह्म में रमण करना। चूँकि आत्मसत्ता परमात्मसत्ता का एक अंश है। अतः सामान्यतः आत्मसत्ता में रमण करना ही ब्रह्मचर्य है।

शारीरिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य को तप कहा जा सकता है। क्योकि तप का अर्थ मल का निष्कासन करना है और ब्रह्मचर्य का अर्थ इंन्द्रिय संयम होता है। इसी ब्रह्मचर्य नामक तप से आत्मिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति होती है। योग साधक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त करने का प्रयास करते है। ब्रह्मचर्य से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

म्हर्षि व्यास के अनुसार –

ब्रह्मचर्य गुसेन्द्रियस्येंपस्थस्य संयमः।

अर्थात गुप्तेन्द्रिय और उपस्थ (मूत्रेन्दिय) को संयम करना ब्रह्मचर्य है।

शाडिल्योपनिषद के अनुसार –

ब्रह्मचर्य नाम सर्वावस्थासु मनोवाक काय कर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः।

अर्थात सभी में अवस्था, सभी जगह, शरीर मन और वाणी द्वारा मैथुन का त्याग ब्रह्मचर्य कहलाता है।

स्वामी हरिहरानन्द के अनुसार –

ब्रह्मचर्य द्वारा सारहानि रुद्ध हो जाने के कारण वीर्यलाभ होता हैं जबकि अब्रह्मचर्य से शरीर के स्नायु आदि सबकी हानि होती है।

ब्रह्मचर्य का परिणाम –

ब्रह्मचर्य से ही आध्यात्मिक उन्नति तो सम्भव है ही, साथ ही सारी उपलब्धियॉ प्राप्त हो जाती है। स्वामी विवेकानन्द ने इसलिए कहा है कि ''योगी का ब्रह्मचर्यवान होना अनिवार्य है।'' क्योकि इसके बिना आध्यात्मिक शक्ति नहीं आ सकती। महर्षि पतंजलि ब्रह्मचर्य का परिणाम बताते हुए स्पष्ट करते हैं कि–

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। पांतजल योग सूत्र 2/38

अर्थात् ब्रह्मचर्य से वीर्य लाभ होता है।

स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य बल द्वारा ही योग साधक अपने योग्य अनुकूल मार्ग को बिना किसी अवरोध के प्राप्त कर लेता है।

10.3.5 अपरिग्रह–

परिग्रह का अर्थ जमा करना है। अपरिग्रह अर्थात संचय प्रवृत्ति का त्याग करना है। आपातकाल में भी इच्छानुसार द्रव्यों का संग्रह न करना अपरिग्रह कहलाता है। अपरिग्रह से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

महर्षि व्यास के अनुसार – अर्जन, रक्षण, क्षय, संग और हिंसा इन पांच प्रकार के दोषों को देखकर विषयों को ग्रहण न करना अपरिग्रह है।

स्वामी हरिहरानन्द के अनुसार – शरीर के भोग्य विषय में परिग्रह द्वारा तुच्छता ज्ञान होने से शरीर भी परिग्रह है, ऐसा ज्ञान पड़ता है।

अपरिग्रह का परिणाम –

इस अपरिग्रह के अभ्यास से मन शुद्ध हो जाता है। और इससे जो फल प्राप्त होते है, उनमें पूर्वजन्म की स्मृति का ज्ञान होना प्रथम है। महर्षि पतंजलि अपरिग्रह का परिणाम बताते हुए स्पष्ट करते हैं कि–

अपरिग्रहस्यैर्ये जन्मकथन्ता संबोधः। पांतजल योग सूत्र 2/39

अर्थात् अपरिग्रह की स्थिति हो जानं पर पूर्व जन्म कैसे हुए थे ? इसका ज्ञान होता है।

स्पष्ट है कि अपरिग्रह से भूत, भविष्य जन्म का ज्ञान हो जाता है। अतः अपरिग्रह आवश्यक है। 'योग साधक के लिए परिग्रह, अविद्या (चित्त में मोह अहंकार) आदि महान क्लेष कहे गये है। इनका सम्यक रुप से परित्याग करना ही अपरिग्रह कहलाता है।

10.3.6 महाव्रत का स्वरूप–

पॉंच यमों का अनुष्ठान (अनुष्ठान) जब सार्वभौमिक अर्थात सब के साथ, सब जगह और सब समय समभाव से कियाजाता है, तब ये सब महाव्रत हो जाते हैं। महर्षि पतंजलि महाव्रत के स्वरूप को स्पष्ट इस प्रकार से करते हैं–

जातिदेशकालसमयानवविच्छनाः सार्वभौमा महाव्रतम्।। पांतजल योग सूत्र 2/31

अर्थात् उक्त वर्णित यम जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित, सार्वभौम होने पर उपर्युक्त यम महाव्रत हो जाते हैं। जब अहिंसादि पांचों यमों का अनुष्ठान सार्वभौमिक सब के साथ, सब जगह और सब समय समभाव से किया जाता है, तब ये सब महाव्रत हो जाते हैं।

उदाहरणस्वरूप हम समझ सकते हैं कि जैसे कोई व्यक्ति यह संकल्प ले कि वह मछली के अतिरिक्त अन्य किसी भी जीव की हत्या नहीं करेगा तो यह जाति–अविच्छिन्न अहिंसा हुई। इसी प्रकार कोई यह व्रत ले कि मैं अमुक–अमुक तीर्थों में हिंसा नहीं करूँगा, तब यह देश अवछिन्न अहिंसा हुई। यदि कोई यह नियम पालन करे कि मैं अमावस्या–पूर्णिमा को हिंसा नहीं करूँगा, तब इसे कालावच्छिन्न अहिंसा कहेंगे और यदि कोई यह संकल्प करे कि मैं युद्ध के समय के अतिरिक्त अन्य किसी समय किसी भी कारण से हिंसा न करूँगा, तब यह समयावच्छिन्न अहिंसा कहलाती है। इसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के भी भेद समझने चाहिए। इस प्रकार से यम का पालन व्रत तो कहलाता है किंतु ये सार्वभौमिक न होने से महाव्रत नहीं हो सकते। उपर्युक्त भेदों का प्रतिबन्ध न लगाकर जब समस्त भूतों–प्राणिजनों के साथ सभी देशों में सदैव इनका पालन किया जाये, किसी भी कारण से इनमें शिथिलता न आने पाये तभी ये सार्वभौमिक होने से महाव्रत कहे जाते हैं।

10.4 महर्षि पतंजलि के अनुसार नियम का स्वरूप

अष्टांग योग का दूसरा महत्वपूर्ण अंग नियम है। नियम का अभिप्राय कुछ नियमित अनुष्ठानों द्वारा मन को अनुशासन में लाना है। नियम व्यक्तिगत जीवन में सुधार के लिए हैं। नियम का अर्थ नियमन करना भी है। अपनी ऊर्जा को एक निश्चित क्षेत्र में लगाना मन के बिखराव को रोकना ही नियम है। इसका उद्देश्य सात्विक शक्ति एवं पवित्रता को प्राप्त कर एकाग्रता की तैयारी करना है। सामाजिक दृष्टि में जो आचरण हम करते है अर्थात स्वयं से व दूसरों के साथ जो व्यवहार के लिए स्वंय द्वारा अपनायी जाने वाली प्रक्रियाएँ नियम कहलाती हैं। अर्थात स्वयं के परिष्कार के लिए अपनाये जाने वाली प्रक्रिया नियम कहलाती है। महर्षि पतंजलि के अनुसार नियम भी हम पूर्व के अध्याय में भी पढ़ चुके हैं जो इस प्रकार हैं –

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।। पांतजल योग सूत्र 2/32

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान–ये पांच नियम बताये हैं। नियम से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

विज्ञानभिक्षु ने तप स्वाध्याय, संतोष, पवित्रता तथा ईश्वरपूजन को योग की सिद्धियों को प्रदान करने वाले नियम कहा है।

आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार – नियमों का संबंध व्यक्तिगत जीवन से है, उनमें जिन व्रतों का पालन करने पर जोर दिया गया है। वे सब ऐसे है जिनसे मनुष्य जीवन वास्तव में सुखी एवं संतुष्ट बन सकता है।

नियम को निम्नलिखित परिभाषाओं से आप और स्पष्टतः समझ सकते हैं–

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद के अनुसार–

अनुरक्ति परमतत्वे सततं नियमः स्मृतः। 2/29

अर्थात निरन्तर परम शक्ति में अनुरक्ति का नाम नियम है।

तेजोबिन्दूपनिषद के अनुसार,–

सजातीय प्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृति।

नियमो ही परमानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः।। 2/18

अर्थात घट आदि की विजातीय वृत्तियों का निरोध करते हुए, अखण्ड चिन्मात्र की सजातीय वृत्तियों का प्रवाह जो परम आनन्ददायक होते हैं, को नियम कहते हैं।

अतः हम कह सकते हैं कि नियम एक प्रकार से व्यक्तिगत आत्मानुशासन है जिसे अपनाने से योग साधक अपनी ऊर्जा के बिखराव को रोक कर किसी विशिष्ट दिशा में लगाता हैं। नियम से संबंधित अंगों का वर्णन इस प्रकार है–

10.4.1 शौच–

शौच का सामान्य अर्थ शुद्धिकरण है। शुद्धिकरण शारीरिक, मानसिक और अंतःकरण का होता है। जब शरीर, मन और अंतःकरण का शुद्धिकरण होता है तो यह पावनता कभी नष्ट नहीं होती है, इसलिए ईश्वर को पतित पावन कहते है। इसी शुद्धिकरण और पवित्रता हेतु महर्षि पतंजलि ने शौच का वर्णन किया है। शौच से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

महर्षि व्यास के अनुसार –
चित्त के मलिनताओ को दूर करना आभ्यांतर शौच कहलाता है।

कबीर के अनुसार –

कबीरा मन निर्मल भया जैसे गंगा नीर।
पाछे पाछे हरि फिरे कहत कबीर कबीर।।

अर्थात कबीर कहते है कि जब मन गंगा जल की भांति पवित्र हो जाता है तो भगवान स्वयं हमें ढुढंता है।

तुलसीदास –

निर्मल मन जन सो मोहि भावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

अर्थात मन पवित्र होने पर ही परमात्मा को प्रिय होते है। कपट छल रहने पर उन्हें अप्रिय लगते है।

संत रैदास –

मन चंगा तो कठौती में गंगा।।

अर्थात मन पवित्र है तो घर पर ही गंगा है।
स्पष्ट है कि योग साधना में मन की पवित्रता का बहुत महत्व है।

शौच का परिणाम–

जब योगी बाह्य शुद्धि का पालन करते है तो योगी की अपने निज के शरीर में अशुद्धि बुद्धि होने से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। अर्थात उस समय स्वयं के शरीर से घृणा होती

है। देहभाव से हम ऊंचे उठ जाते है और आत्मभाव में जीते है। शौच की स्थिरता से साधक को अपने शरीर से घृणा तथा दूसरों से अलिप्तता का भाव उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त आभ्यन्तरशौच से सत्व की शुद्धि, प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर विजय तथा आत्म साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त होती है। महर्षि पतंजलि शौच का परिणाम बताते हुए स्पष्ट करते हैं कि–

शौचात्स्वागंजुगुप्सा परैरसंसर्गः'।। पांतजल योग सूत्र 2/40

अर्थात शौच का पालन करने से अपने अंगों में वैराग्य दसरों से ससंर्ग न करने की इच्छा उत्पन्न होती है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार –
जब यर्थाथ बाह्य और आभ्यान्तर दोनों प्रकार के शौच सिद्ध हो जाते है। तब शरीर के प्रति उदासीनता आ जाती है।
स्पष्ट है कि उपर्युक्त बाह्य शौचफल के अतिरिक्त महर्षि पतंजलि अन्य फल भी बताते है। अर्थात शरीर शुद्धि के फल के पश्चात् मन की शुद्धि का फल बताते है।

सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।। पांतजल योग सूत्र 2/41

अर्थात् इसके अतिरिक्त की अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियों का वश में होना तथा आत्म साक्षात्कार की योग्यता भी प्राप्त होती है। इस शौच के अभ्यास द्वारा सत्व पदार्थ का अधिकार होता है मन एकाग्र एवं प्रफुल्ल हो जाता है। सत्व शुद्धि, एकाग्रता, इन्द्रियजय होने पर आत्मदर्शन भी हो जाता है क्योंकि मन पवित्र होने पर ही यह प्राप्त किया जा सकता है।

10.4.2 संतोष–

शौच के बाद सन्तोष दूसरा नियम है। कर्तव्य–कर्म का पालन करते हुए उसका जो परिणाम हो तथा प्रारब्ध के अनुसार स्वयं जो कुछ प्राप्त हो तथा जिस परिस्थिति में रहना पड़े, उसी से सन्तुष्ट रहना और अन्य किसी प्रकार की कामना न करना 'संतोष' है।
संतोष एक मानसिकम गुण है जिसमें सुख प्रप्त होता है। अर्थात गुण के रुप हम संतोष को समझ सकते है। संतोष से ही जीवन को सुख शांति प्राप्त होती है। यह आधार स्रोत है। यह सौभाग्य व पुरुषार्थ दोनों से मिल सकता है। भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति की ललक व उसे प्राप्त करने के पश्चात् भोग करना तृष्णा है और तृष्णा के पश्चात् असंतोष होता है, तृष्णा का अंत नहीं होता हैं यह संतोष करने पर ही समाप्ति हो सकती है। संतोष से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–
महर्षि व्यास के अनुसार – संतोष, सन्निहित साधन (केवल प्राणधारण योग्य उपलब्ध साधन) से अधिक साधन के ग्रहण में इच्छाशून्यता है।
स्वामी हरिहरानन्द के अनुसार – किसी इष्ट पदार्थ के प्राप्त होने से जों तुष्ट निश्चिंत भाव होता है। उसकी भावना करके संतोष को आयत्व करना पड़ता है।

संतोष का परिणाम –

महर्षि पतंजलि संतोष का परिणाम बताते हुए स्पष्ट करते हैं कि

संतोषादनुत्तमसुखलाभ।। पांतजल योग सूत्र 2/41

संतोष से, अनुत्तम सुखलाभः अर्थात् जिससे श्रेष्ठ अन्य कोई सुख नहीं है, ऐसा सर्वश्रेष्ठ सुख का लाभ प्राप्त होता है। संतोष एक ऐसा सुख है जो स्वयं के पास कुछ भी न होने पर भी प्राप्त किया जा सकता है। संतोष के माध्यम से व्यक्ति के जीवन में शांति और सुख का आगमन होता है।

10.4.3 तप–

तप का शाब्दिक अर्थ है–प्रज्जवलित करना, जलाना, चमकाना, कष्ट सहना अथवा उष्णता से जलना। इसलिए इसका अर्थ है, जीवन में एक निश्चित ध्येय की प्राप्ति के लिए किन्ही भी स्थितियों में सतत अथक प्रयत्न। इसमें पवित्रता, आत्मसंयम और कठिन तपस्या समाविष्ट है। तप का अर्थ है स्वयं को गलाना जिसमे शरीर, प्राण, इन्द्रियों और मन को उचित रीती और अभ्यास से वशीकृत किया जाता है। तप से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

महर्षि व्यास के अनुासर –

तपो द्वन्द्वसहनम्।।

तप द्वन्द्व सहन करने की क्रिया है।

गीता के अनुसार :–

देवद्विज गुरुप्राज्ञ पूजनं शौचमार्जनम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीर तप उच्चते।। 17/14

श्री कृष्ण ने अजुन को गीता में तप की परिभाषा बताते हुये कहा है कि – '' देव , ब्राह्मण, गुरु और बुद्धिमान ज्ञानी इन सबका पूजन, शौच, पवित्रता, ब्रहमचर्य और अहिंसा यह सब शरीर संबंधी शरीर द्वारा किये जाने वाले तप हैं। गीता में 3 प्रकार के – सात्विक, राजसिक, तामसिक,।

तप का परिणाम–

तप से हमें शरीर व इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त होती है क्योंकि तप के द्वारा हमारा सम्पूर्णतः परिष्कार हो जाता है। अतः तप योग साधक के लिए आवश्यक है। महर्षि पतंजलि ने इस तप का परिणाम इस प्रकार बताया है–

कायेन्द्रिसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपयः।। पांतजल योग सूत्र 2/43

तप के प्रभाव से जब अशुद्धि का क्षय (नाश) हो जाता है। जब शरीर एवं इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है।

स्वामी विवेकानन्द तप के प्रभाव को बताते हुये कहते हैं कि तपस्या का फल दूरदर्शन, दूरश्रवण इत्यादि के रुप से प्रकाशित होता है। तप दिव्यात्मा से अंतिम मिलन की प्राप्ति का और इस उद्देश्य के मार्ग में बाधक बननेवाली सभी कामनाओं को जलाने का जागृत प्रयत्न है। उचित उद्देश्य जीवन को प्रकाशमान, पवित्र तथा दिव्य बनाता है। इस प्रकार के उद्देश्य के बिना कर्म और प्रार्थना का कोई मूल्य नहीं है। तप के बिना जीवन प्रेमहीन हृदय के समान है। तप के बिना चित्त परमात्मा तक पहुँच नहीं सकता है।

10.4.4 स्वाध्याय–

यह नियम का चौथ अंग है। जो कि स्वयं के परिष्कार व आत्मोत्थान के लिए आवश्यक अंग है। स्वयं अपने जीवन का समीक्षात्मक अध्ययन ही स्वाध्याय कहलाता है। स्व का अर्थ है स्वयं और अध्याय का अर्थ अध्ययन का शिक्षण है। व्यक्ति के अन्दर जो उत्तम है उसे प्रकट करना शिक्षण है। इसलिए स्वाध्याय आत्मअध्ययन है। इससे ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति होती है। स्वाध्याय से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

गीता में कहा गया है – '

नहि ज्ञानेन सदृशंपवित्र मिहविद्याते।। 4/38

अर्थात ज्ञान के सदृश पवित्र संसार में कुछ नहीं है।

तैत्तरियोपनिषद –

स्वाध्यायात्मा प्रमदः।।

स्वाध्याय में प्रमाद मत करो।

स्वाध्याय का परिणाम–

स्वाध्याय के फल रुप में महर्षि पतंजलि ने इष्ट और देवता की उपलब्धि का वर्णन किया है उन्होने स्वाध्याय का परिणाम इस प्रकार बताया है–

स्वाध्यायादिष्ट देवता संप्रयोगः।। पांतजल योग सूत्र 2/44

स्वाध्याय से अपने इष्ट देवता का सम्यक् साक्षात्कार हो जाता है।

देव, ऋषि तथा सिद्धगण स्वाध्यायशील योग साधक को दृष्टिगोचर होते है, और उनके द्वारा योगी का कार्य भी सिद्ध होता है। निःसन्देह रुप से इस संसार में ज्ञान के समान पवित्रतादाता कुछ भी नहीं है।

10.4.5 ईश्वर प्रणिधान

प्रणिधान का अर्थ है– धारणकरना स्थापित करना। ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वर को धारण करना। ईश्वर को स्थापित करना। व्यास भाष्य में इसके संदर्भ में लिखा है – ईश्वर प्रणिधान परम गुरु ईश्वर को सर्वकर्म का अर्पण है। ईश्वर प्रणिधान में ईश्वर की प्रतिमा हृदय में अंतःकरण में स्थापित करनी होती है। और उसे प्रत्येक क्षण का साथी बनाना पड़ता है। ईश्वर श्रेष्ठ गुणों का समुच्चय होता है। इसके द्वारा हम श्रेष्ठताओं का वरण करते हैं, आदर्शों को अपनाते हैं। यह हमारे व्यवहार को परिष्कृत–परिमार्जित करता है। समता, दया, करूणा आदि सदगुणों का जागरण इस तकनीक के माध्यम से होता है। ईश्वर प्रणिधान से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

विज्ञान भिक्षु के अनुसार – शिव के प्रति स्तुति, स्मरण तथा पूजन–अर्चन, वाणी, मन तथा शरीर के द्वारा की गई यह भक्ति ईश्वर का पूजन कहलाती है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार – इन्होनं प्रणिधान का अर्थ समर्पण बताया है तथा कहा कि ईश्वर समर्पण भाव में सब कुछ समर्पित कर दिया जाता है। इसके पश्चात् ही समाधि की पूर्णता होती है।

ईश्वर प्रणिधान का तात्पर्य है कि पूर्ण भक्ति भावपूर्वक आत्म समर्पण सहित उपासना जिससे उपासक के अभीष्ट की सिद्धि करता है। यहां यह भी स्पष्ट है कि जब साधक सर्वात्मना संसार से विरक्त होकर अपनी समस्त भावनाएं ईश्वर में समर्पित कर देता है, तब

चंचल वृत्तियों के उठने की संभावना क्षीण हो जाती है, यही प्रभु प्रसाद है। अपने भक्त की भावनाओं को जानकर ईश्वर उसका अभीष्ट पूर्ण कर देता है। मन, वचन, कर्म से ईश्वर की भक्ति, नाम रुप, लीला, गुण, प्रभाव आदि का श्रवण, कीर्तन, मनन, चिन्तन आदि के द्वारा श्रेष्ठवृत्तियों विचारों को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना ही ईश्वर प्रणिधान है।

ईश्वर प्रणिधान का परिणाम–

ईश्वर प्रणिधान में जप, ध्यान, पूजा, अर्चना के किया कृत्य ही नहीं आतें, उसका वास्तविक स्वरुप सर्वव्यापी है। कर्मफल में निष्पक्ष न्यायाधीश जैसी स्थिति के परमेश्वर के अनुशासन को ठीक तरह से पालन करना आवश्यक है। सन्मार्ग पर एकाकी चलते हुए भी अपने साथ परमसत्ता की उपस्थिति अनुभव करना ही ईश्वर प्रणिधान है। यह नियम का सबसे महत्वपूर्ण अंग है, जिसका फल समाधि बताया गया है। महर्षि पतंजलि ने ईश्वर प्रणिधान का परिणाम इस प्रकार बताया है–

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।। पांतजल योग सूत्र 2/45

अर्थात् ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धी होती है।

स्वामी हरिहरानन्द के अनुसार ईश्वर प्रणिधान समाधि का साक्षात् सहायक होता है। क्योंकि वह समाधि के अनुकूल भावना स्वरुप है। ईश्वर प्रणिधान नियम का अंतिम अंग है लेकिन यह सबसे महत्वपूर्ण है क्योंकि अन्य की अपेक्षा इसके द्वारा समाधि सिद्ध हो सकती है। क्योंकि सभी किया ईश्वर के साक्ष्य में संपन्न होने पर वह श्रेष्ठ रुप से कियान्वित होती रहेगी और इस प्रकार अंतिम स्थिति समाधि हो सकती है।

10.5 प्रतिपक्ष भावना एवं वितर्क

जब मन वासनाओं के वशीभूत हो व्यवधान उपस्थित करे तो उस समय साधक को वासनाओं के विपरीत (प्रतिपक्षी) सद्गुणों का चिन्तन करना चाहिए। यम–नियम के पालन में आने वाली बाधाओं के निवारण के लिए महर्षि पतंजलि ने प्रतिपक्ष भावना का वर्णन किया है जो इस प्रकार है–

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।। पांतजल योग सूत्र 2/33

अर्थात् जब वितर्क (यम एवं नियमों के विरोधी भाव) यम–नियम के पालन में अवरोध पैदा करें तब उनके प्रतिपक्षी विचारों का प्रत्येक क्षण चिन्तन करते रहना चाहिए।

यम–नियम के पालन में कभी–कभी ऐसे अवसर आ जाते हैं जब मन की ऐसी पुरानी आदतें पुनः जाग्रत होने लगती हैं जो विभिन्न वासनाओं और लालसाओं का कारण होती हैं। ऐसे अवसर पर व्यक्ति (साधक) का मन अत्यन्त चंचल और व्यथित होने लगता है। ऐसी अवस्था में प्रतिपक्ष भावना द्वारा ही वांछित लाभ हो सकता है। मान लीजिए किसी समय व्यक्ति का मन घृणा से भर जाता है तो उसे प्रेम के गुणों तथा उससे होने वाले लाभों का चिंतन करना चाहिए। क्योंकि प्रेम और घृणा एक–दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। इस प्रकार जब भी साधक निम्न वासनाओं में फँसे, उसे प्रतिपक्ष भावना द्वारा इनसे छुटकारा पाने का प्रयास करना चाहिए।

मान लीजिए एक व्यक्ति ईमानदारी का जीवन जीना चाहता है परन्तु वह देखता है कि बेईमान लोग दिन दूनी, रात चौगुनी तरक्की कर रहे हैं। यह सब देखकर उसके भी

मन में ऐसा ही बेइमानीपूर्वक जीवनयापन करने का विचार आ जाये तो आश्चर्य नहीं। हम इसे ही वितर्क कहते हैं जो तर्क का श्याम पक्ष कहलाता है। जब यह विचार दृढ़ होने लगे कि ईमानदारी से कुछ मिलना–जुलना नहीं है, समाज में ईमानदार का कौड़ी मोल नहीं है तो साधक को बेईमानी के विपरीत गुण, ईमानदारी के पक्ष में मनन–चिंतन प्रारंभ कर देना चाहिए। उसे यह स्वीकार करने का प्रयास करना चाहिए कि केवल ईमानदारी की राह पर चलकर ही वह आध्यात्मिक पक्ष पर कामयाबी हासिल कर सकता है। बस यही प्रतिपक्ष भावना कहलाती है।

इन बाधाओं की प्रकृति पर तीव्रता के अनुसार प्रतिपक्ष भावना का चिंतन करना चाहिए जिसे महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्र में इस प्रकार वर्णित किया है–

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।। पांतजल योग सूत्र 2/34

अर्थात् हिंसा आदि भाव वितर्क कहलाते हैं। स्वयं या दूसरों द्वारा कराये या अनुमोदन किये गयें; इनके कारण लोभ, क्रोध और मोह होते हैं। ये भी मृदु, मध्यम अथवा तीव्र होते हैं। ये दुःख और अज्ञान रुप अनन्त फल देने वाले हैं। ऐसा विचार ही प्रतिपक्ष की भावना कहलाता है।

कभी–कभी ऐसा भी देखा जाता है कि व्यक्ति स्वयं हिंसा नहीं करता। परन्तु यह संभव है कि वह अन्य दूसरों के माध्यम से हिंसा कराता हो, उसे सहन करता हो अथवा उसका समर्थन भी करता हो। योग के अन्तर्गत सभी कृत (स्वयं किये हुए), कारित (दूसरों से करवाये हुए) और अनुमोदित (समर्थन देना) रूपों का त्याग अनिवार्य है। यह सभी अन्य वितर्कों जैसे– झूठ, बेईमानी, चोरी इत्यादि पर लागू होते हैं। जैसे ही प्रतिपक्ष चिंतन प्रारम्भ होता है मन निम्न वासनाओं को न्यून करने में सफल होने लगता है। नकारात्मक चिंतन धनात्मक होने लगता है। यम–नियम का पालन सहज होने लगता है।

अभ्यास प्रश्न–

1. यम मुख्य रुप से जीवन के किस पक्ष से सम्बन्धित हैं–
   क. सामाजिक पक्ष
   ख. व्यक्तिगत पक्ष
   ग. सामाजिक एवं व्यक्तिगत पक्ष
   घ. लौकिक पक्ष
2. नियम मुख्य रुप से जीवन के किस पक्ष से सम्बन्धित हैं–
   क. लौकिक पक्ष
   ख. व्यक्तिगत पक्ष
   ग. अलौकिक पक्ष
   घ. सामाजिक पक्ष
3. प्रतिपक्ष भावना से आप क्या समझते हैं–
   क. सद्गुणों के विपरीत दुर्गुणों का चिन्तन करना
   ख. सद्गुणों एवं दुर्गुणों का चिन्तन करना
   ग. वासनाओं के विपरीत सद्गुणों का चिन्तन करना
   घ. केवल दुर्गुणों का चिन्तन करना

4. अहिंसा के पालन करने से महर्षि पतंजलि के अनुसार प्राप्त फल है–
   क. सब प्राणी प्रेम का त्याग कर देते हैं
   ख. सब प्राणी मांस–मदिरा का त्याग कर देते हैं
   ग. सब प्राणी बैर का त्याग कर देते हैं
   घ. सब प्राणी धनी हो जाते हैं
5. स्वाध्याय के पालन करने से महर्षि पतंजलि के अनुसार प्राप्त फल है–
   क. इष्ट देवता का सम्यक् साक्षात्कार हो जाता है
   ख. दैत्य का साक्षात्कार हो जाता है
   ग. इन्द्र देवता का सम्यक् साक्षात्कार हो जाता है
   घ. नींद में स्वप्न अच्छे आते हें

10.6 सारांश

यमों का सम्बन्ध केवल व्यक्तियों से नहीं है, परन्तु सारे मनुष्य समाज से है, इसलिए सारे मनुष्य इसका पालन करने में समष्टि रूप परतन्त्र है। कोई मनुष्य चाहे वह किसी जाति, देश काल अवस्था, वर्णाश्रम , मत–मतान्तर का क्यों न हो, यदि उसे मनुष्य समाज मे रहना है तो उसके लिए यम सर्वदा माननीय और पालनीय है। संसार में इस समय फैली हुई भयंकर अशान्ति से नाश का केवल मात्र उपाय यमों का यर्थात रूप से पालन करना है। इनके पालन सेही संसार की व्यवस्था ठीक रह सकती हैं। यम' वे नियम है जो मानव समाज के अस्तित्व और विकास की दृष्टि से आवश्यक और उपयोगी है। इसलिए केवल योग–साधना के निमित्त ही नहीं बल्कि सभी मनुष्यों द्वारा सभी अवस्थाओं में उनका पालन किया जाना कल्यानकारी है। पहला नियम 'शौच' (बाहरी और भीतरी स्वच्छता) का इसलिए परमावश्यक है कि यह मुख्यतः स्वास्थ्य का आधार है और अस्वस्थ मनुष्य अपने लिए, अपने परिवार के लिए समाज के लिए भार रूप सिद्ध होता है। भोग की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक रूप से पाई जाती है और यह जीवन रक्षा के लिए आवश्यक भी है। यदि हमारे भीतर संतोष की भावना न हो तो हम पर्याप्त से भी, अधिक पाकर प्रसन्न नहीं हो सकते। वास्तव में सुख प्राप्त करने का उपाय अपनी आवश्यताओं को घटाना और कम से कम में तृप्त हो जाना है। सन्तोष का नियम ही सुख का उपाय है। जीवन में कठिनाइयों और संधर्षो का आना अनिवार्य है अपना अस्तित्व स्थिर रखने और सम्मानपूर्वक जीवन बिताने के लिए दृढ़ता और सहिष्णुता की आवश्यकता है। यह गुण 'तप' से ही प्राप्त होते हैं। सांसारिक जीवन की सफलता के लिए अन्य बातों की तरह ज्ञान भी अनिवार्य रूप से आवश्यक है। उसका सरल और उपयोगी मार्ग संसार के सद्ग्रन्थों में एकत्रित ज्ञान को नियमित 'स्वाध्याय' द्वारा प्राप्त करना ही है। अनुभव भी ज्ञान–प्राप्ति का एक श्रेष्ठ मार्ग माना गया है, पर वर्तमान समय में जीवन ऐसा बहुमुखी हो गया है कि सब प्रकार का अनुभव और ज्ञान प्राप्त कर सकना असम्भव है, इसलिए हमको अन्य महापुरूषो और विद्धानों के अनुभव से भी लाभ उठाना चाहिए और उसे आत्मोन्नति के लिए उपयोग में लाना चाहिए।

इस दृष्टि से देखने पर योग दर्शन में वर्णित यम, नियम जीवन के ऐसे स्वर्ण सूत्र है। जिनका पालन करना हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य है और जिनके द्वारा ही हम 'मानव' बनने के

अधिकारी हो सकते है। योग–दर्शनकार ने स्वंय ही इनकी बड़ी प्रशंशा की है और इनके यथोचित पालन करने से बड़ी–बड़ी सिद्धियों की प्राप्ति संभव बतलाई है।

10.7 पारिभाषिक शब्दावली

विकल्प रहित – जिसका कोई विकल्प न हो अर्थात् जिसका पालन अनिवार्य रुप से करना हो, वह विकल्प रहित है।

अभिघात – किसी को मन, वचन और कर्म से चोट पहुँचाना।

सनातन घर्म– वह धर्म जो सृष्टि के प्रारम्भ से है।

हितकारी– सभी के लिए समान रुप से उपयोगी।

आसक्ति– किसी के भी प्रति आकर्षण का भाव आना।

परिष्कार– शुद्धिकरण, पवित्रीकरण करना।

प्रतिष्ठित– स्थापित करना।

दूरदर्शन– भविष्य के सम्बन्ध में पहले से ही ज्ञान हो जाना।

दूरश्रवण– जो सामान्य कानों से न सुनाई देता हो उसे सुनने की क्षमता प्राप्त हो जाना।

प्रमाद– किसी कार्य को करने में लापरवाही बरतना ही प्रमाद है।

10.8 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर

उत्तर– 1. क, 2. ख, 3. ग, 4. ग, 5. क।

10.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, सांख्य दर्शन एंव योग दर्शन, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, वेद विभाग, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार, 2000.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, 108 उपनिषद्, ज्ञानखण्ड, ब्रहमविधा खण्ड, साधना खण्ड, वेद माता गायत्री ट्रस्ट, शांतिकुन्ज, हरिद्वार,1992.
- आरण्य स्वामी हरिहरानन्द, पांतजल योगदर्शनम्, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली,2000.
- कुमारी पवन, विज्ञानभिक्षु प्रणीत योगसारसंग्रह, ईस्टर्न बुक लिकंर्स, दिल्ली,1981.
- चन्द्र त्रिलोक, पांतजलयोग और श्री अरविन्दयोग, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली,1992.
- तीर्थ श्रीस्वामी ओमानन्द, पांतजलयोगप्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर,2005.
- विवेकानन्द स्वामी, विवेकानन्द साहित्य, खण्ड–1, स्वामी स्वानन्द, अद्वैत आश्रम, मायावती, पिथैरागढ़–पुनमुद्रित, 2000.
- सरस्वती स्वामी दिव्यानन्द, वेदों में योग विद्या, यौगिक शोध सस्थांन, योगधाम, आर्यनगर, हरिद्वार,1999.
- गोयन्दका जयदयाल, श्रीमद्भगवद्गीता तत्व–विवेचन, हिन्दी टीका, गीताप्रेस गोरखपुर,2005.

10.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामाग्री

- सरस्वती स्वामी सत्यानन्द, मुक्ति के चार सोपान, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार,1994.
- तीर्थ श्रीस्वामी ओमानन्द, पांतजलयोगप्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर.
- सरस्वती स्वामी सत्यानन्द, मुक्ति के चार सोपान, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार.
- गोयन्दका हरिकृष्णदास, पातंजल योग दर्शन, (साधारण हिन्दी–व्याख्या सहित), गीता प्रेस, गोरखपुर.
- पण्डया डॉ. प्रणव, अर्न्तजगत की यात्रा का ज्ञान विज्ञान, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार.
- शास्त्री दुण्ढिराज, योगसूत्रम्, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी.
- द्विवेदी, प्रतिभा, योगप्रतिभा, राधा पब्लिकेंशन्स, नई दिल्ली.
- श्रीवास्तव सुरेशचन्द्र, पांतजलयोगदर्शन, चौखभ्मा सुभारती प्रकाशन, वाराणसी.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, यम–नियम, श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुंज, हरिद्वार.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, पतंजलि योग की तत्व साधना, श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुंज, हरिद्वार.

10.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. यम के विभिन्न अंगों का सविस्तार वर्णन करें।
2. नियम के विभिन्न अंगों का सविस्तार वर्णन करें।
3. वितर्क एवं प्रतिपक्ष भावना से आप क्या समझते हैं?
4. महाव्रत को महर्षि पतंजलि के अनुसार स्पष्ट करें।
5. यम एवं नियम के महत्व को स्पष्ट करें।

इकाई–11 आसन एवं प्राणायाम

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 आसन का स्वरूप

11.3.1 आसन का अर्थ

11.3.2 आसन की सिद्धी

11.3.3 आसन का परिणाम

11.3.4 आसन का महत्व

11.4 प्राणायाम का स्वरूप

11.4.1 प्राणायाम का अर्थ

11.4.2. प्राणायाम के भेद

11.4.3 प्राणायाम का परिणाम

11.4.4 प्राणायाम का महत्व

11.5 सारांश

11.6 परिभाषिक शब्दावली

11.7 अभ्यास हेतु प्रश्न एवं उनके उत्तर

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

11.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामिग्री

11.10 निबन्धात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

अष्टांग योग में तीसरा व चौथा अंग क्रमशः आसन एवं प्राणायाम है। इनकी आवश्यकता योग साधना के लिए महत्वपूर्ण है।योग का तीसरा अंग आसन है। आसन के अभ्यास से स्थिरता, स्वास्थ्य तथा शरीर में हलकापन आता है। आसनों का पहला उद्देश्य हमें शारीरिक और मानसिक कष्टों से मुक्ति दिलाना है। आसन शरीर के जोड़ों को लचीला भी बनाते हैं। वे शरीर की मॉसपेशियों में खिंचाव उत्पन्न कर उन्हें स्वस्थ बनाते हैं तथा शरीर से विषाक्त तत्वों को बारह निकाल में सहायता करते हैं। आसन तंत्रिका–तंत्र के कार्यकलापों में सामंजस्य उत्पन्न करते हैं और शरीर के आंतरीक अंगों की कार्यक्षमता को बढ़ाते हैं। इस प्रकार धीरे–धीरे शरीर स्वस्थ बन जाता है।
आसन के वर्णन के पश्चात् महर्षि पतंजलि प्राणायाम का वर्णन करते हैं। प्राणायाम योग का एक प्रमुख अंग है। हठयोग एवं अष्टांग योग दोनों में इसे स्थान दिया गया है। प्राणायाम नियंत्रित श्वास क्रियाओं से संबंधित है। स्थूल रूप में यह जीवनधारक शक्ति अर्थात प्राण से संबंधित है। प्राणायाम करने से शरीर के विभिन्न अंगों पर प्रभाव पड़ता है। 'हठप्रदीपिका' में उल्लेखित है कि प्राणायाम करने से शरीर में शक्ति तथा स्फूर्ति आती है। प्राणायाम स्वास्थ्य संवर्द्धन हेतु अति उत्तम माना जाता है। प्राणायाम के माध्यम से विजातीय तत्त्व बाहर निकलते हैं तथा शरीर के अंदर रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है। प्रस्तुत इकाई में हम आसन एवं प्राणायाम के संदर्भ में अध्ययन करेंगें।

11.2 उद्देश्य

- महर्षि पतंजलि के अनुसार आसन का स्वरुप क्या हैं ?
- महर्षि पतंजलि के अनुसार आसन के अभ्यास का क्या प्रभाव है ?
- महर्षि पतंजलि के अनुसार प्राणायाम का स्वरुप क्या हैं ?
- महर्षि पतंजलि के अनुसार प्राणायाम के अभ्यास का क्या प्रभाव है ?
- अन्य व्याख्याकारों का आसन–प्राणायाम के संदर्भ में क्या मत है ?

11.3 आसन का स्वरूप

स्थिर और सुखकर शारीरिक स्थिति मानसिक संतुलन लाती है और मन की चंचलता को रोकती है। आसनो की प्रारंभिक स्थिति में अनेक प्रकारान्तरों के द्वारा अपने शरीर को अन्तिम स्थिति के अभ्यास के लिए तैयार किया जाता है। महर्षि घेरण्ड, घेरण्ड संहिता में आसनों के सन्दर्भ में बताते हैं कि इस संसार में जितने जीव–जंतु हैं, उनके शरीर की जो सामान्य स्थिति है, उस भंगिमा का अनुसरण करना आसन कहलाता है। भगवान् शिव ने चौरासी लाख आसनों का वर्णन किया है। उनमें से चौरासी विशिष्ट आसन हैं ओर चौरासी आसनों में से बत्तीस आसन मृत्यु लोक के लिए आवश्यक माने गये हैं। महर्षि पतंजलि ने आसन शरीर को स्थिर और सुखदायी रखने की तकनीक के रूप में बताया है।

11.3.1 आसन का अर्थ–

आसन शब्द संस्कृत भाषा के 'अस' धातु से बना है जिसके दो अर्थ हैं– पहला है 'बैठने का स्थान' तथा दूसरा 'शारीरिक अवस्था'।

1. बैठने का स्थान

2. शारीरिक अवस्था

बैठने का स्थान का अर्थ है जिस पर बैठते हैं जैसे–मृगछाल, कुश, चटाई, दरी आदि का आसन। आसन के दूसरे अर्थ से तात्पर्य है शरीर, मन तथा आत्मा की सुखद संयुक्त अवस्था या शरीर, मन तथा आत्मा एक साथ व स्थिर हो जाती है और उससे जो सुख की अनुभूति होती है वह स्थिति आसन कहलाती है। आसन अर्थात् जब हम किसी स्थिर आसन में बैठेंगे तभी योग साधनाएं कर सकते है। महर्षि पतंजलि ने अपने योग सूत्रों में किसी विशेष आसन का वर्णन नहीं किया है केवल आसन की परिभाषा बताई है जो इस प्रकार है–

स्थिरंसुखमासनम्।। पातंजल योग सूत्र 2/46

जो स्थिर और सुखदायी हो वह, आसन है।

हमें किसी भी प्रकार की साधना करने के लिए आसन के अभ्यास की आवश्यकता होती हैं। आसन मे स्थिरता व सुख होने पर ही हम प्राणायाम आदि क्रिया सम्पन्न कर सकते हैं। अतः स्वाभाविक व प्राथमिक आवश्यकता साधना के लिए ''आसन'' की होती है। आसन से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

तेजबिंदु उपनिषद् में आसनों को इस प्रकार परिभाषित किया गया है–

सुखनैव भवेत् यस्मिन् जस्त्रं ब्रह्मचिंतनम्।

जिस स्थिति में बैठकर सुखपूर्वक निरंतर परमब्रह्म का चिंतन किया जा सके, उसे ही आसन समझना चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने आसनों को इस प्रकार बताया है–

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।
श्रीमद्भगवद्गीता 6/13

कमर से गले तक का भाग, सिर और गले को सीधे अचल धारण करके तथा दिशाओं को न देख केवल अपनी नासिका के अग्र भाग को देखते हुए स्थिर होकर बैठना आसन है।

व्यास भाष्य के अनुसार– पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्यङ्क्, क्रौन्चनिषदन, हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन, समसंस्थान– ये सब स्थिरसुख अर्थात् यथासुख होने से आसन कहे जाते हैं।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार – जितनी भी जीव जातियां है, उनके बैठने के जो आकार विशेष हैं, वे सब आसन कहलाते हैं।

स्वामी विवेकानंद के अनुसार – आसन के स्थिर होने का तात्पर्य है, शरीर के अस्तित्व का बिल्कुल भान तक न होना।

आसनों के सबंध में आचार्य श्री राम शर्मा कहते हैं कि ''आसनों का गुप्त आध्यात्मिक महत्व है, इन क्रियाओं से सूर्य चक्र, मणिपुर चक्र, अनाहत चक्र आदि सूक्ष्म

ग्रंथियों का जागरण होता है और कई मानसिक शक्तियों का असाधारण रूप से विकास होने लगता है।'' इससे स्पष्ट है कि शारीरिक लाभ तो स्वाभाविक है, लेकिन आध्यात्मिक, मानसिक लाभ भी साथ–साथ मिलते हैं।

11.3.2 आसन की सिद्धी–

महर्षि पतंजलि ने आसन की सिद्धी के सन्दर्भ में स्पष्ट करते हुए कहा है कि –

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।। योग सूत्र 2/47

प्रयत्न की शिथिलता से तथा अनंत परमात्मा में मन लगाने से सिद्ध होता है। आसन की सिद्धी से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

व्यास भाष्य के अनुसार – प्रयत्नोपरम् से आसन सिद्धि होती है।

स्वामी हरिहरानंद के अनुसार – आसन सिद्धि अर्थात् शरीर की सम्यक् स्थिरता तथा सुखावस्था प्रयत्नशैथिल्य और अनंत समापत्ति द्वारा होती है।

स्वामी विवेकानंद के अनुसार – अनंत के चिंतन द्वारा आसन स्थिर हो सकता है।

स्पष्ट है कि आसन तभी सिद्ध कहलाता है जब स्थिरता व प्रयत्न की शिथिलता अर्थात् अभाव होगा क्योंकि प्रयत्न करने पर स्थिर सुख का लाभ प्राप्त नही हो सकता है न हीं स्थिरता के भाव प्राप्त हो सकते है। अतः जैसे–जैसे हम शरीर को स्थिर रखने का प्रयास करेंगे वैसे–वैसे हम शरीर भाव से ऊँचे उठेंगे। यह अनंत के चिंतन द्वारा ही संभव है।

11.3.3 आसन का परिणाम–

जब आसन के अभ्यास से स्थिरता का भाव आ जाएगा वो हमें किसी भी प्रकार का दुःख द्वन्द्व आदि हमें विचलित नही कर पायेंगे। इसे ही महर्षि पतंजलि ने आसन के फल के रूप में स्पष्ट करते हुए कहा है कि

ततो द्वन्द्वानभिघातः ।। पातंतज योग सूत्र 2/48

उस आसन की सिद्धि से जाड़ा–गर्मी आदि द्वन्द्वों का आघात नहीं लगता। आसन के फल से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

व्यास भाष्य– आसन जय के कारण शीत–उष्ण आदि द्वन्द्वों द्वारा (साधक) अभिभूत नहीं होता।

स्वामी हरिहरानंद– ''आसनस्थैर्य के कारण शरीर में शून्यता आ जाती है''

स्पष्ट है कि जब हम आसन सिद्ध कर लेंगे तो हमें शुभ–अशुभ सुख–दुख, गर्मी–ठण्डी आदि भाव नही सतायेंगे। हम बोधशून्य हो जाते हैं। क्योंकि पीड़ा एक चंचलता ही है और आसन सिद्धि तो चंचलता की समाप्ति होने पर ही हो सकती है अतः हममें यह चंचलता रूपी पीड़ा का भान नही होता है हम कसी भी स्थिति मे सुख व शांत होते हैं।

11.3.4 आसन का महत्व–

आसनों का मुख्य उद्देश्य शारीरिक तथा मानसिक कष्टों से मुक्ति दिलाना है। आसन से शरीर के जोड़ लचीले बनते हैं। इनसे शरीर की माँसपेशियों में खिंचाव उत्पन्न होता है

जिससे वह स्वस्थ होती हैं तथा शरीर के विषाक्त पदार्थों को बाहर निकालने की क्रिया संपन्न होती है। आसन से शरीर के आंतरिक अंगों की मालिश होती है जिससे उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है। आसन शरीर के मर्म स्थानों में रहने वाली 'हव्य वहा' व 'कव्य वहा' विद्युत शक्ति को क्रियाशील रखते हैं। आसनों का सीधा प्रभाव शरीर की नस–नाड़ियों के अतिरिक्त सुक्ष्म कशेरुकाओं पर भी पड़ता है। आसनों के अभ्यास से आकुंचन और प्रकुंचन द्वारा शरीर के विकार हट जाते हैं। आसन से शारीरिक संतुलन के साथ–साथ भावनात्मक संतुलन की प्राप्ति होती है।

11.4 प्राणायाम का स्वरूप

प्राणायाम योग का एक प्रमुख अंग है। हठयोग एवं अष्टांग योग दोनों में इसे स्थान दिया गया है। महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग में चौथे स्थान पर प्राणायाम रखा है। प्राणायाम नियंत्रित श्वसनिक क्रियाओं से संबंधित है। स्थूल रूप में यह जीवनधारक शक्ति अर्थात प्राण से संबंधित है। प्राण का अर्थ श्वांस, श्वसन, जीवन, ओजस्विता, ऊर्जा या शक्ति है। 'आयाम' का अर्थ फैलाव, विस्तार, प्रसार, लंबाई, चौड़ाई, विनियमन बढ़ाना, अवरोध या नियंत्रण है। इस प्रकार प्राणायाम का अर्थ श्वास का दीर्घीकरण और फिर उसका नियंत्रण है।

11.4.1 प्राणायाम का अर्थ–

प्राणायाम शब्द संस्कृत व्याकरण के दो शब्दों 'प्राण' और 'आयाम' से मिलकर बना है। संस्कृत में प्राण शब्द की व्युत्पत्ति 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'अन्' धातु से हुई है। 'अन' धातु जीवनीशक्ति का वाचक है। इस प्रकार 'प्राण' शब्द का अर्थ चेतना शक्ति होता है। 'आयाम' शब्द का अर्थ है– नियमन करना। इस प्रकार बाह्य श्वांस के नियमन द्वारा प्राण को वश में करने की जो विधि है, उसे प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम अत्यंत महत्वपूर्ण प्रक्रिया है जो अष्टांग योग में वर्णित है। प्राणायाम का अर्थ प्राण का विस्तार करना। स्वामी विवेकानंद ने इसे प्राण का सयंमन करना कहा है। महर्षि पतंजलि प्राणायाम को एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया मानते हैं। प्राणायाम की परिभाषा उन्होंने निम्न प्रकार दी है–

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।। पांतजल योग सूत्र 2/49

अर्थात उस आसन के स्थिर हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति का रुक जाना प्राणायाम है। प्राणायाम से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

महर्षि व्यास– आसन जय होने पर श्वास या बाह्य वायु का आचमन तथा प्रश्वास या वायु का निःसारण, इन दोनों गतियों का जो विच्छेद है अर्थात उभय भाव है, वही प्राणायाम है।

योगी याज्ञवल्क्य के अनुसार–

प्राणापान समायोगः प्राणायाम इतीरितः।

प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचक पूरक कुम्भकैः।। 6/2

अर्थात प्राण और अपान वायु के मिलाने को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम कहने से रेचक, पूरक और कुंभक की क्रिया समझी जाती है।

जाबाल दर्शनोपनिषद के अनुसार–

प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचकपूरककुम्भकैः।। 6/1/2

अर्थात रेचक, पूरक एवं कुम्भक क्रियाओं के द्वारा जो प्राण संयमित किया जाता है, वही प्राणायाम है।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद के अनुसार–

निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः।। 2/30

अर्थात सभी प्रकार के वृत्तियों के निरोध को प्राणायाम कहा गया है।

स्वामी ओमानन्द तीर्थ के अनुसार – बाहर की वायु का नासिका द्वारा अंदर प्रवेश करना श्वास कहलाता है। कोष्ठ स्थित वायु का नासिका द्वारा बाहर निकलना प्रश्वास कहलाता है। श्वास प्रश्वास की गतियों का प्रवाह रेचक, पूरक और कुम्भक द्वारा बाह्याभ्यान्तर दोनों स्थानों पर रोकना प्राणायाम कहलाता है।

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य के अनुसार – प्राणायाम सांस खींचने, उसे अंदर रोके रखने और बाहर निकालने की एक विशेष क्रिया पद्धति है। इस विधान के अनुसार, प्राण को शरीर में संचित किया जाता है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार – प्राणायाम क्या है ? शरीर स्थित जीवनीशक्ति को वश में लाना। प्राण पर अधिकार प्राप्त करने के लिए हम पहले श्वास–प्रश्वास को संयत करना शुरू करते हैं क्योंकि यही प्राणजय का सबसे सख्त मार्ग है।

स्वामी शिवानन्द के अनुसार– प्राणायाम वह माध्यम है जिसके द्वारा योगी अपने छोटे से शरीर में समस्त ब्रह्माण्ड के जीवन को अनुभव करने का प्रयास करता है तथा सृष्टि की समस्त शक्तियाँ प्राप्त कर पूर्णता का प्रयत्न करता है।

अतः प्राणायाम अर्थात प्राण का आयाम जोड़ने की प्राण तत्व संवर्धन की एक ऐसी प्रक्रिया जिसमें जीवात्मा का क्षुद्र प्राण ब्रह्म चेतना के महाप्राण से जुड़कर उसी के तुल्य बन जाए।

11.4.2. प्राणायाम के भेद–

महर्षि पतंजलि ने प्राणायाम के मुख्यतः तीन भेद बताए हैं–

बाह्याभ्यनन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।। पांतजल योग सूत्र 2/50

अर्थात (यह प्राणायाम) बाह्य वृत्ति, आभ्यान्तर वृत्ति और स्तम्भ वृत्ति वाला (तीन प्रकार का) होता है। देश, काल और संख्या के द्वारा देखा जाता हुआ विशाल एवं हल्का होता है। उपरोक्त तथ्यों को हम निम्नलिखित बिन्दुओं से स्पष्ट कर सकते हैं–

1. बाह्य वृत्ति (रेचक)– प्राणवायु को नासिका द्वारा बाहर निकालकर बाहर ही जितने समय तक सरलतापूर्वक रोका जा सके, उतने समय तक रोके रहना 'बाह्य वृत्ति' प्राणायाम है।

2. आभ्यान्तरवृत्ति (पूरक)– प्राणवायु को अंदर खींचकर अर्थात श्वास लेकर जितने समय आसानी से रूक सके, रोके रहना आभ्यान्तर वृत्ति है, इसका अपर नाम 'पूरक' कहा गया है।

3. स्तम्भ वृत्ति (कुम्भक)– श्वास प्रश्वास दोनों गतियों के अभाव से प्राण को जहाँ–तहाँ रोक देना कुम्भक प्राणायाम है। प्राणवायु सहजतापूर्वक बाहर निष्कासित हुआ हो अर्थात जहाँ भी हो वहीं उसकी गति को सहजता से रोक देना स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है।

प्राणायाम के इन तीनों लक्षणों को योगी देश, काल एवं संख्या के द्वारा अवलोकन करता रहता है कि वह किस स्थिति तक पहुँच चुका है। देश, काल व संख्या के अनुसार, ये तीनों प्राणायामों में से प्रत्येक प्राणायाम तीन प्रकार का होता है–

1. देश परिदृष्ट– देश में देखता हुआ अर्थात देश से नापा हुआ है अर्थात प्राणवायु कहाँ तक जाती है। जैसे– (1) रेचक में नासिका तक प्राण निकालना, (2) पूरक में मूलाधार तक श्वास को ले जाना, (3) कुम्भक में नाभिचक्र आदि में एकदम रोक देना।

2. काल परिदृष्ट– समय से देखा हुआ अर्थात समय की विशेष मात्राओं में श्वास का निकालना, अन्दर ले जाना और रोकना। जैसे– दो सेकण्ड में रेचक, एक सेकण्ड में पूरक और चार सेकण्ड में कुम्भक। इसे हठयोग के ग्रंथों में भी माना गया है। हठयोग के ग्रंथों म पूरक, कुम्भक और रेचक का अनुपात 1:4:2 बताया गया हैं।

3. संख्या परिदृष्टः– संख्या से उपलक्षित। जैसे– इतनी संख्या में पहला, इतनी संख्या में दूसरा और इतनी संख्या में तीसरा प्राणायाम। इस प्रकार अभ्यास किया हुआ प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म अर्थात लम्बा और हल्का होता है।

इन तीन प्राणायामों के अतिरिक्त महर्षि पतंजलि ने एक चौथे प्रकार का प्राणायाम भी बताया है–

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।। पांतजल योग सूत्र 2/51

अर्थात अंदर बाहर के विषय को फेंकने वाला चौथा प्राणायाम है।

बाह्य आभ्यान्तर प्राणायाम पूर्वक अर्थात इनका पूर्ण अभ्यास होने पर प्राणायाम की अवस्था विशेष पर विजय करने से क्रम से दोनों पूर्वोक्त प्राणायामों की गति का निरोध हो जाता है, तो यह प्राणायाम होता है।

यह चतुर्थ प्राणायाम पूर्व वर्णित तीनों प्राणायामों से सर्वथा भिन्न है। सूत्रकार ने यहॉ यही तथ्य प्रदर्शित करने के लिए सूत्र में 'चतुर्थ पद' का प्रयोग किया है। बाह्य एवं अन्तः के विषयों के चिंतन का परित्याग कर देने से अर्थात इस अवधि में प्राण बाहर निष्कासित हो रहे हों अथवा अंदर गमन कर रहे हों अथवा गतिशील हों या स्थिर हों, इस तरह की जानकारी को स्वतः परित्याग करके और मन को अपने इष्ट के ध्यान में विलीन कर देने से देश, काल एवं संख्या के ज्ञान के अभाव में, स्वयमेव प्राणों की गति जिस किसी क्षेत्र में रूक जाती है, वही यह चतुर्थ प्राणायाम है। यह सहज ही आसानी से होने वाला

राजयोग का प्राणायाम है। इस प्राणायाम में मन की चंचलता शांत होने के कारण स्वयं ही प्राणों की गति रूक जाती है। यही इस प्राणायाम की विशेषता है।

इसके अतिरिक्त हठयोग के ग्रंथों में प्राणायाम के आठ प्रकार लिते हैं। हठयोग में प्राणायाम को 'कुम्भक' कहा गया है। ये आठ प्रकार के प्राणायाम या कुम्भक हैं–

हठप्रदीपिका के अनुसार–

सूर्यभेदनमुज्जायी, सीत्कारी शीतली तथा।

भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा, प्लाविनी त्यष्टकुम्भकाः।। 2/44

अर्थात सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा तथा प्लाविनी ये आठ प्रकार के कुम्भक हैं

घेरण्ड संहिता के अनुसार–

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।

भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा, केवली चाष्टकुम्भकाः।। 4/66

अर्थात केवली, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा तथा केवली ये आठ कुम्भक हैं।

11.4.3 प्राणायाम का परिणाम –

प्राणायाम मन पर नियंत्रण, मानसिक स्थिरता, शांति तथा एकाग्रता विकसित करने की पद्धति है। इसके अभ्यास से ध्यान के अभ्यास में आसानी होती है। प्राणायाम से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्ति का विकास करना संभव होता है। इसके साथ ही प्राणायाम का अभ्यास द्वारा षट्चक्रों के जागरण में सुविधा होती है तथा प्राणायाम अनेक प्रकार के रोगों के निवारण में सहायक होता है। महर्षि पतंजलि ने प्राणायाम के दो फल बताये हैं जो इस प्रकार हैं–

प्रकाश के आवरण का नाश–

प्राणायाम से भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के लाभ मिलते हैं। प्राणायाम से पाचन शक्ति, वीर्य शक्ति, प्रत्यक्ष ज्ञान और स्मरण शक्ति बढ़ती है। इससे मन शरीर के बंधन से मुक्त होता है, बुद्धि प्रखर होती है, आत्मा को प्रकाश मिलता है। महर्षि पतंजलि प्राणायाम के फल को स्पष्ट करते हुये बताते हैं कि–

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।। पांतजल योग सूत्र 2/52

अर्थात उस प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है। प्राणायाम के फल से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने इस सूत्र के सन्दर्भ में जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

महर्षि व्यास के अनुसार–

प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म।। योगभाष्य 2/52

अर्थात प्राणायाम अभ्यासकारी योगी के विवेकज्ञान का आवरणभूत कर्म क्षीण होता है।

पंचशिखाचार्य के अनुसार –

तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्थे।

अर्थात प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है, उससे मन धुल जाते हैं और ज्ञान का प्रकाश होता है।

महर्षि घेरण्ड के अनुसार –

नाड़ी शुद्धिश्च ततः पश्चात्प्राणायामं या साधयेत्। घेरण्ड संहिता 5/2

नाड़ियों की शुद्धि के लिए प्राणायाम करना चाहिए।

हठप्रदीपिका के अनुसार –

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्। हठप्रदीपिका 2/16

उचित रीति से प्राणायाम का अभ्यास करने से सभी रोगों का नाश होता है। हठप्रदीपिका में आगे कहा गया है–

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः।
अभूवन्नन्तकभयात् तस्मात् पवनमभ्यसेत्।। हठप्रदीपिका 2/39

बह्मा आदि देवता भी काल के भय से प्राणायाम के अभ्यास में लगे रहते हैं इसलिए सबको प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार –

क्लेशादि संचित कर्मों का पर्दा प्राणायाम के अभ्यास द्वारा शनैः–शनैः दुर्बल होते–होते क्षीणता को प्राप्त हो जाता है तब योगी का विवेकज्ञान रूपी प्रकाश सूर्य के सदृश्य प्रकाशित हो जाता है। अतः योगी साधक को प्राणायाम का नियमित अभ्यास आत्मिक उत्थान हेतु सतत करते रहना चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार –

चित्त में स्वभावतः समस्त ज्ञान भरा है। वह सत्व पदार्थ द्वारा निर्मित है, पर रज और तम पदार्थों से ढंका हुआ है। प्राणायाम के द्वारा चित्त का यह आवरण हट जाता है।यह आवरण हट जाने से, हम मन को एकाग्र करने में समर्थ होते हैं।

धारणा की योग्यता–

महर्षि पतंजलि प्राणायाम के दूसरे फल को स्पष्ट करते हुये बताते हैं कि–

धारणासु च योग्यता मनसः।। पांतजल योग सूत्र 2/53

अर्थात समस्त धारणाओं में मन की योग्यता होती है। प्राणायाम के फल से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने इस सूत्र के सन्दर्भ में जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

महर्षि व्यास के अनुसार – प्राणायाम के अभ्यास से ही धारणा करने की योग्यता बढ़ती जाती है। इसमें 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' सूत्र भी प्रमाण है।

आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार – प्राणायाम के दीर्घकालीन नियमित अभ्यास से ही मन में धारणा की योग्यता आ जाती है। प्राणायाम में सतत आध्यात्मिक देश की भावना करनी पड़ती है। इस प्रकार से करते रहने से चित्त को उन देशों में प्रतिष्ठित करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

11.4.4 प्राणायाम का महत्व–

प्राण के नियंत्रण से मन भी नियंत्रित होता है क्योंकि प्राण शरीर व मन के बीच की कड़ी है। प्राणायाम से चित्त की शुद्धि होती है और चित्त शुद्ध होने से अनेक तर्कों, जिज्ञासुओं का समाधान स्वयमेव हो जाता है। इन्द्रियों का स्वामी मन है और मन पर अंकुश प्राण का रहता है। इसलिए जितेन्द्रिय बनने वाले को प्राण की साधना करनी चाहिए। इस प्रकार प्राणायाम वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से हम प्राणों का नियमन, नियंत्रण, विस्तार एवं शोधन करते हैं। चित्त शुद्ध होता है और चित्त शुद्ध होने पर ज्ञान प्रकट होता है जो योग साधना का प्रमुख उद्देश्य है। प्राणायाम के प्राण का विस्तार एवं नियमन होता है और प्राण मानवीय जीवन में विशेष महत्व रखता है। प्राण की महत्ता सर्वविदित है और प्राणायाम प्राण नियंत्रण की प्रक्रिया है। अतः प्राणायाम का योग में महत्वपूर्ण स्थान है।

अभ्यास प्रश्न–

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार आसन है–
   क. सुख पूर्वक स्थिर होना
   ख. सुख पूर्वक होना
   ग. स्थिर होना
   घ. एकाग्र होना
2. महर्षि पतंजलि के अनुसार आसन का फल है –
   क. आघात से मुक्ति
   ख. दुख से मुक्ति
   ग. द्वन्दों के आघात से मुक्ति
   घ. सुख से मुक्ति
3. महर्षि पतंजलि के अनुसार आसन अष्टांग योग का अंग है –
   क. चौथा
   ख. तीसरा
   ग. पाचंवा
   घ. दूसरा
4. महर्षि पतंजलि के अनुसार प्राणायाम अष्टांग योग का अंग है –
   क. चौथा
   ख. तीसरा
   ग. पाचंवा
   घ. दूसरा
5. महर्षि पतंजलि के अनुसार धारणा की योग्यता प्राप्त होती है–
   क. आसन के अभ्यास से
   ख. प्राणायाम के अभ्यास से

ग. ध्यान के अभ्यास से
घ. यम के अभ्यास से

11.5 सारांश

आसन और प्राणायाम के अभ्यास से योग साधक शरीर और मन को स्थिर और एकाग्र करता है। यह योगसाधना हेतु प्रारंभिक अंग है जिसका प्रभाव सीधे–सीधे हमारे स्थूल शरीर और मनःक्षेत्र पर पडता है। आसन –प्राणायाम के अभ्यास से शरीर स्वस्थ तथा मन शान्त होता है, जिससे कि धारणा ध्यान आदि हेतु मन की योग्यता होती है। धारणा में मन एकाग्र होता है यह एकाग्रता प्राणायाम के द्वारा प्राप्त की जा सकती है क्योंकि धीरे–धीरे प्राणायाम का अभ्यास इतना हो जाता है कि स्वयं पर पूरी तरह से नियंत्रण का अभ्यास हो जाता है। क्योंकि ''प्राणायाम में सतत आध्यात्मिक देश की भावना करनी पड़ती है। इस प्रकार से अभ्यास करते रहने से चित्त की (धारणा योग्य) इन देशों में प्रतिष्ठित करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

11.6 परिभाषिक शब्दावली

अस्थैर्य– स्थिरता का न होना।

द्वन्द– किसी निर्णय के सम्बन्ध में असमंजस की स्थिति।

परिदृष्ट– भली–भांति देखा जाता हुआ।

आक्षेप– त्याग कर देना।

संस्कार– स्वंय के द्वारा किये गये कार्यों (वर्तमान एवं भूत) से संचित अनुभव।

अविद्याजनित– अज्ञान के कारण उत्पन्न ।

11.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर– 1. क, 2. ग, 3. ख, 4. क, 5. ख।

11.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, सांख्य दर्शन एंव योग दर्शन, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, वेद विभाग, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार, 2000.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, 108 उपनिषद्, ज्ञानखण्ड, ब्रहमविधा खण्ड, साधना खण्ड, वेद माता गायत्री ट्रस्ट, शांतिकुन्ज, हरिद्वार,1992.
- आरण्य स्वामी हरिहरानन्द, पांतजल योगदर्शनम्, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली,2000.
- कुमारी पवन, विज्ञानभिक्षु प्रणीत योगसारसंग्रह, ईस्टर्न बुक लिकंर्स, दिल्ली,1981.
- तीर्थ श्रीस्वामी ओमानन्द, पांतजलयोगप्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर,2005.
- नन्दलाल दशोरा, पातंजल योग सूत्र, रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार,2006.

- विवेकानन्द स्वामी, विवेकानन्द साहित्य, खण्ड–1, स्वामी स्वानन्द, अद्वैत आश्रम, मायावती, पिथैरागढ़–पुनमुद्रित, 2000.
- सरस्वती स्वामी दिव्यानन्द, वेदों में योग विद्या, यौगिक शोध सस्थांन, योगधाम, आर्यनगर, हरिद्वार,1999.
- गोयन्दका जयदयाल, श्रीमद्भगवद्गीता तत्व–विवेचन, हिन्दी टीका, गीताप्रेस गोरखपुर,2005.
- सरस्वती स्वामी सत्यानन्द, घेरण्ड संहिता, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार प्रथम संस्करण,1994.
- दिगम्बर स्वामी, झा ड़ां पीतरम्बर, हठप्रदीपिका, स्वात्माराम कृत , कैवल्यधाम श्रीमन्माधव योगमन्दिर समिति, लोनावाला–410403.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, चिकित्सा उपचार के विविध आयाम, वा .4 वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, वेद विभाग, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार,

11.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामाग्री

- तीर्थ श्रीस्वामी ओमानन्द, पांतजलयोगप्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर.
- सरस्वती स्वामी सत्यानन्द, मुक्ति के चार सोपान, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार.
- गोयन्दका हरिकृष्णदास, पातंजल योग दर्शन, (साधारण हिन्दी–व्याख्या सहित), गीता प्रेस, गोरखपुर.
- पण्डया डॉ. प्रणव, अर्न्तजगत की यात्रा का ज्ञान विज्ञान, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार.
- शास्त्री दुण्ढिराज, योगसूत्रम्, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी.
- चन्द्र त्रिलोक, पांतजलयोग और श्री अरविन्दयोग, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली,1992.
- द्विवेदी, प्रतिभा, योगप्रतिभा, राधा पब्लिकेंशन्स, नई दिल्ली.
- श्रीवास्तव सुरेशचन्द्र, पांतजलयोगदर्शन, चौखम्भा सुभारती प्रकाशन, वाराणसी.
- आचार्य राजवीर शास्त्री, पांतजल योगदर्शन– भाष्यम्, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, 455, खारी बावली, दिल्ली–6.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, यम–नियम, श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुंज, हरिद्वार.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, पतंजलि योग की तत्व साधना, श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुंज, हरिद्वार.

11.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार आसन के सन्दर्भ में विस्तृत व्याख्या करें।
2. महर्षि पतंजलि के अनुसार प्राणायाम के सन्दर्भ में विस्तृत व्याख्या करें।
3. आसन के महत्व को स्पष्ट करें।
4. प्राणायाम के महत्व को स्पष्ट करें।

इकाई –12 प्रत्याहार ,धारणा एवं ध्यान

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 प्रत्याहार का स्वरूप

12.3.1 प्रत्याहार का परिणाम एवं महत्व

12.4 धारणा का स्वरूप

12.4.1 धारणा का अर्थ एवं परिभाषा

12.4.2 धारणा के प्रकार

12.4.3 धारणा का परिणाम एवं महत्व

12.5 ध्यान का स्वरूप

12.5.1 अर्थ एवं परिभाषा

12.5.2 ध्यान की विभिन्न तकनीकें

12.5.3 ध्यान का महत्व

12.6 सारांश

12.7 परिभाषिक शब्दावली

12.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

12.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

12.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामाग्री

12.11 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

प्रत्याहार एवं धारणा द्वारा मन की एकाग्रता और स्थिरता में वृद्धि होती है और यह साधक के अंतःकरण को पवित्र और उच्चस्तरीय संवेदनाओं के ग्रहणयोग्य बनाते हैं, जिससे कि योग साधना में रत साधक उच्च सोपानों की प्राप्ति हेतु स्वयं को योग्य बनाते हैं। धारणा के पश्चात् ध्यान की प्रक्रिया आती है। जब धारणाभ्यासी देश–विशेष में मन को लगाते हुए मन को ध्येय के विषय पर स्थिर कर लेता है तो उसे ध्यान कहते हैं। यह समाधि–सिद्धि के पूर्व की अवस्था है। कुछ उपनिषदों में ध्यान के स्वरूप का वर्णन किया गया है। जैसे–मैत्र्यो तथा स्कन्द उपनिषद् में ध्यान को मन की निर्विषय अवस्था बतलाया गया है– 'ध्यानं निर्विषयं मनः'। ध्यान के पश्चात् समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। समाधि की अवस्था में साधक अपने स्वरूप से शून्य हो जाता है अर्थात् ध्याता, ध्यान के विषय (ध्येय) में स्वयं को तदाकार कर लेता है। प्रस्तुत अध्याय में आप प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान के संदर्भ में अध्ययन करेंगे।

12.2 उद्देश्य

- महर्षि पतंजलि के अनुसार प्रत्याहार का स्वरूप क्या हैं ?
- महर्षि पतंजलि के अनुसार प्रत्याहार का परिणाम क्या हैं ?
- महर्षि पतंजलि के अनुसार धारणा का स्वरूप क्या हैं ?
- महर्षि पतंजलि के अनुसार धारणा का परिणाम क्या हैं ?
- महर्षि पतंजलि के अनुसार ध्यान का स्वरूप क्या हैं ?
- महर्षि पतंजलि के अनुसार ध्यान का परिणाम क्या हैं ?
- अन्य व्याख्याकारों का प्रत्याहार ,धारणा एवं ध्यान के संदर्भ में क्या मत है ?

12.3 प्रत्याहार का स्वरूप

प्रत्याहार दो शब्दों 'प्रति' और 'आहार' से मिलकर बना है। 'प्रति' का अर्थ है विपरीत अर्थात इन्द्रियों के जो अपने विषय हैं उनको उनके विषय या आहार के विपरीत कर देना प्रत्याहार है। इंद्रियॉ विषयी हैं, ये विषय को ग्रहण करती हैं। ये विषय हैं– पंच तन्मात्राएँ। चेतना ज्ञान प्राप्त करना चाहती हैं और चित्त उसका माध्यम बनता है। विषय अधिक होने पर चित्त उसमें भटक जाता है और यह ज्ञान इन्द्रियों से प्राप्त होता है।

जब इंद्रियाँ विषयों को छोड़कर विपरीत दिशा में मुड़ती हैं तो प्रत्याहार होता है। अर्थात इंद्रियों की बहिर्मुखता का अंतर्मुख होना ही प्रत्याहार है। योग के उच्च अंगों के लिए अर्थात धारणा, ध्यान तथा समाधि के लिए प्रत्याहार का होना आवश्यक है।

महर्षि पतंजलि प्रत्याहार के स्वरुप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।। पातंजल योग सूत्र 2/54

अर्थात अपने विषयों के संबंध से रहित होने पर इंद्रियों का जो चित्त के स्वरूप में तदाकार सा हो जाता है, वह प्रत्याहार है। प्रत्याहार से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

महर्षि व्यास के अनूसार – इंद्रियाँ अपने विषय से असम्बद्ध हैं, जैसे मधुमक्खियाँ रानी मधुमक्खी का अनुकरण करती हैं। राजा मन के निरोध होने से इन्द्रियों का भी निरोध हो जाता है। योग की इस स्थिति को ही प्रत्याहार कहा जाता है।

आचार्य श्रीराम शर्मा के अनूसार – इंद्रियों की बाह्य वृत्ति को सब ओर से हटाकर एकत्रित करके मन में लय करने के अभ्यास को प्रत्याहार कहा गया है। इंद्रियों का विषयों से अलग होना ही प्रत्याहार है। जिस समय साधक अपनी साधनाकाल में इंद्रियों के विषयों का परित्याग कर देता है और चित्त को अपने इष्ट में एकाकार कर (लगा) देता है, तब उस समय जो चिंतन इन्द्रियों के विषयों की तरफ न जाकर चित्त में समाहित हो जाती है, वही प्रत्याहार सिद्धि की पहचान है।

जिस तरह से मनुष्य की छाया चलने पर चलने लगती है, रूकने पर रूक जाती है, वैसे ही इंद्रियाँ चित्त के अधीन रहकर कार्य करती हैं। यही प्रत्याहार के अभिमुख होना है।

शारदातिलक के अनूसार –

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु निरगलम्। बलदाहरणं तेभ्य प्रत्याहारोऽभिधीयते।। 25/23

अर्थात ये इन्द्रियाँ विषयों में बेरोक–टोक दौड़ते रहने से चंचल रहती हैं। अतः उन विषयों से इंद्रियों को निरूद्ध कर मन को स्थिर करने का नाम प्रत्याहार है। रूद्रयामल में भगवद्पाद में चित्त लगाने को प्रत्याहार कहा गया है।

घेरण्ड संहिता के अनूसार –

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्यैव वशं नयेत्।। 4/2

अर्थात जहाँ–जहाँ यह चंचल मन विचरण करे इसे वहीं–वहीं से लौटाने का प्रयत्न करते हुए आत्मा के वश में करे (यही प्रत्याहार है)।

विष्णु पुराण के अनूसार –

शब्दादिष्वनुषक्तानि निगृह्याक्षणि योगवित्। कुर्याच्चित्तानुकारिणी प्रत्याहार परायणाः।।

अर्थात योगविदों को चाहिए कि वह शब्दादि विषयों में आसक्ति का निग्रह करे और अपने–अपने विषयों में आसक्ति का निग्रह करे और अपने–अपने विषयों से निरूद्ध इंद्रियों को चित्त का अनुसरण करने वाला बनावे। यही अभ्यास प्रत्याहार का रूप धारण कर लेता है।

कठोपनिषद् (1/3/13) के अनुसार – बुद्धिमान मनुष्य को उचित है कि वाक् आदि इंद्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर मन को इष्ट में लगावे।

मैत्रेयुपनिषद् (1/9) के अनुसार – चित्त ही संसार है। इसलिए प्रयत्नपूर्वक उसे ही शुद्ध करो, क्योंकि जैसा चित्त है वैसी ही गति, यह सनातन सिद्धांत है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि इंद्रियों का अपने विषयों को छोड़कर चित्त के अनुकूल अनुरूप होकर कार्य करना प्रत्याहार है। उपर्युक्त परिभाषाओं में महर्षि पतंजलि द्वारा बतायी गयी परिभाषा के अनुसार प्रत्याहार स्वतः होने वाली प्रक्रिया है। इसमें प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है जबकि अन्य परिभाषाओं में प्रयासपूर्वक अर्थात क्रियात्मक प्रत्याहार पर जोर दिया गया है।

12.3.1 प्रत्याहार का परिणाम एवं महत्व–

महर्षि पतंजलि के अनूसार –

ततः परमावश्यतेइन्द्रियाणाम्।। पातंजल योग सूत्र 2/55

उस प्रत्याहार से इंद्रियों की परम वश्यता होती है अर्थात प्रत्याहार से इंद्रियाँ अपने वश में हो जाती हैं। प्रत्याहार के परिणाम से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

व्यास भाष्य के अनूसार – इंद्रियों की परमवश्यता क्या है, इसे व्यास भाष्य में इस प्रकार कहा गया है–कोई कहते हैं शब्दादि विषयों में आसक्त न होना अर्थात अपने अधीन रखना इन्द्रियवश्यता या इन्द्रिजय है।दूसरे कहते हैं कि वेदशास्त्र से अविरूद्ध विषयों का सेवन, उनके विरूद्ध विषयों का त्याग इन्द्रियजय है।कुछ लोग कहते हैं कि विषयों में न फँसकर अपनी इच्छा से विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्प्रयोग।कुछ लोग कहते हैं कि राग–द्वेष के अभावपूर्वक सुख–दुःख से शून्य विषयों का ज्ञान होना इन्द्रियजय है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनूसार – तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय होकर जहाँ अपने मन को ठहराना या चलाना चाहे, उसी में ठहरा एवं चला सकता है। फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य से प्रीति हो जाती है और असत्य में कभी नहीं।

आचार्य श्रीराम शर्मा के अनूसार – योगी साधक जब प्रत्याहार की सिद्धि प्राप्त कर लेता है तो समस्त इंद्रियाँ उसके वश में हो जाती हैं। वह जितेन्द्रिय हो जाता है। इंद्रियों की स्वतंत्रता का सदैव के लिए अभाव हो जाता है।

इन सब विषयों में इन्द्रियजय के लक्ष्य में विषयों का संबंध बना ही रहता है जिससे गिरने की आशंका दूर नहीं हो सकती। इसलिए यह इंद्रियों की परमवश्यता नहीं है। चित्त की एकाग्रता के कारण इंद्रियों की विषयों में प्रवृत्ति न होना इन्द्रियजय है। उस एकाग्रता से चित्त के निरूद्ध होने पर इंद्रियों का सर्वथा निरोध हो जाता है और अन्य किसी इंद्रियजय के उपाय में प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए यही इंद्रियों की परमवश्यता है। प्रत्याहार का फल है इन्द्रियजय अर्थात मन सहित समस्त इंद्रियों पर विजय। इन्द्रियजय योग की एक महत्वपूर्ण घटना या प्रक्रिया है जो आगे धारणा, ध्यान, समाधि के लिए आधारभूमि का काम करती है।

12.4 धारणा का स्वरूप

राजयोग को दो प्रमुख भागों में बांटा गया है– बहिरंग योग एवं अंतरंग योग। बहिरंग योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार प्रथम पांच अंग आते हैं और अंतरंग योग में धारणा, ध्यान तथा समाधि को रखा गया है। धारणा अंतरंग योग का प्रथम अंग है। धारणा मुख्यतः ध्यान की पूर्व तैयारी है। किसी भी ध्यान से पहले धारणा आवश्यक है। अन्तर विषयों से मुक्ति के लिए हम मन को एकाग्र करते हैं तो धारणा होती है। प्रत्याहार में हम मन तथा चित्त को अंतर्मुखी बनाते हैं और धारणा में उसे एक बिन्दु पर लगाते हैं। शास्त्रों में अधिकतर पंच महाभूतों की धारणा बतायी गयी है क्योंकि पंचमहाभूत हमारे संपर्क में रहते हैं। हम उन्हें अनुभव करते हैं क्योंकि अधिक सूक्ष्म विषयों पर हम धारणा नहीं कर सकते ।

12.4.1 धारणा का अर्थ एवं परिभाषा–

धारणा मन की एकाग्रता है, एक बिन्दु, एक वस्तु या एक स्थान पर मन की सजगता को अविचल बनाए रखने की क्षमता है। "योग में धारणा का अर्थ होता है मन को किसी एक बिन्दु पर लगाए रखना, टिकाए रखना। किसी एक बिन्दु पर मन को लगाए रखना ही धारणा है। धारणा शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'धृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है– आधार, नींव।" धारणा अर्थात ध्यान की नींव, ध्यान की आधारशिला। धारणा परिपक्व होने पर ही ध्यान में प्रवेश मिलता है। धारणा की अनेक परिभाषाएँ मिलती हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं–

महर्षि पतंजलि– देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।। पा.यो.सू. 3/1

अर्थात देश विशेष में चित्त को स्थिर करना धारणा कहलाता है।

स्पष्ट है कि महर्षि ने भी मन को एकाग्र करने की प्रक्रिया को ही धारणा कहा है जिसमें मन या चित्त को किसी स्थान विशेष में बांधकर रखने की प्रक्रिया ही धारणा है। यहाँ देश के दो भेद किए गए हैं– बाह्य देश जैसे किसी मूर्ति, सूर्य, चन्द्रमा आदि तथा अंतर देश जैसे शरीर के अंदर के कुछ विशिष्ट स्थान जैसे षट्चक्र आदि। धारणा से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

महर्षि व्यास– नाभिचक्रे, ह्रदयपुण्डरीके, मूर्धिन ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्यादि देशों में अथवा बाह्य विषय में वृत्ति मात्र से बंधना स्थिर करना धारणा कहलाता है।

इस सूत्र में देश बन्ध पद का अभिप्राय यह है कि चित्तवृत्ति को शरीर के अंदर किसी स्थान विशेष जैसे नाभिचक्र, ह्रदय कमल, नासिका का अग्रभाग, भृकुटि, जिह्वाग्र में अथवा आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदि देवता में से किसी एक में अन्य सभी जगह के विषयों से विरक्त हो एक ही विषय पर चित्त की वृत्ति को स्थिर करने का नाम ही धारणा है।

कुछ अन्य ग्रंथों में धारणा की परिभाषा इस प्रकार है–

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्–

पंचभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु वंचषु। मनसो धारणं एतद युक्तस्य च यमादिभिः।

अर्थात चित्त का निश्चलीकरण भाव होना ही धारणा है। शरीरगत पंचमहाभूतों में मनोधारण रूप धारणा भवसागर को पार कराने वाली है।

योगतत्वोपनिषद (69/72)– पंचज्ञानेन्द्रियों के विष्ज्ञय में ब्रह्म या आत्मा की भावना होना ही धारणा है।

दर्शनोपनिषद्– शरीरगत पंचभूतांश का बाह्य पंचभूतों में धारण करना ही यथार्थ धारणा है।

तेजोबिन्दूपनिषद्– मन के विषयों में ब्रह्मभाव का अवस्थित होना ही धारणा है।

कठोपनिषद्–

तां योगमिति मन्यते स्थिरामिन्दिय धारणम्। 2/3/11

अर्थात मन और इंद्रियों का दृढ़ नियंत्रण ही धारणा योग है।

वसिष्ठ संहिता– इसमें धारणा की चार परिभाषाएँ दी गयी हैं। अर्थात योगशास्त्र के ज्ञाता योगी लोग यम आदि गुणों से युक्त अपने में मन की स्थिरता को धारणा कहते हैं। अन्य तीन परिभाषाओं में क्रमशः एक में बाह्याकाश एवं अंतराकाश का हृदय में चिंतन करने को धारणा कहा गया है। एक में पंचमहाभूतों का बीज मंत्रों के साथ और एक में पांच देवताओं का चिंतन करना धारणा कहा गया है।

स्वामी विवेकानन्द– धारणा का अर्थ है मन को देह के भीतर या उसके बाहर किसी स्थान में धारण या स्थापन करना। मन को स्थान विशेष में धारण करने का अर्थ है मन को शरीर के अन्य स्थानों से हटाकर किसी एक विशेष अंश के अनुभव में बलपूर्वक लगाए रखना।

आचार्य श्रीराम शर्मा– धारणा का तात्पर्य उस प्रकार के विश्वासों की धारणा करने से है जिनके द्वारा मनोवांछित स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। भौतिक संपदायें कुपात्रों को भी मिल जाती हैं परंतु आत्मिक संपदाओं में एक भी ऐसी नहीं है जो अनाधिकारी को मिल सके।

स्वामी निरंजनानंद सरस्वती– वह वस्तु या प्रत्यय जिस पर मन दृढ़तापूर्वक आधारित होता है, योग की परंपराओं में धारणा राजयोग का अंतरंग अभ्यास है जो मानसिक अनुशासन का मार्ग है।

स्वामी शिवानंद– विचारों के सामुदायीकरण को धारणा कहते हैं। मानसिक प्रवृत्तियों को केवल एक पदार्थ पर स्थिर और प्रतिष्ठापित करना धारणा है। जिस विधि में मन और मन की प्रवृत्तियाँ एकाग्र कर दी जाती हैं। उनमें चंचलता और विक्षेप नहीं रहता उसे (या उस विधि को) धारणा कहा जाता है।

12.4.2 धारणा के प्रकार–

धारणा के प्रकारों का वर्णन विभिन्न ग्रंथों एवं विभिन्न विद्वानों ने अलग–अलग प्रकारों का वर्णन किया है–

स्वामी निरंजनानंद सरस्वती के अनुसार – इन्होंने चार प्रकार की धारणा बतायी है जिनके कई उपभेद हैं जो क्रमशः इस प्रकार हैं –

1. औपनिषदिक धारणा– इसमें स्वामी जी ने 6 प्रकार की धारणा बताई है–

- बाह्याकाश
- अंतराकाश
- चिदाकाश
- आज्ञाचक्र धारणा
- हृदयाकाश धारणा
- दहराकाश धारणा

2. लय धारणा– यह दो प्रकार की है–

- मूलाधार एवं विशुद्धि दृष्टि
- लोक दृष्टि

3. व्योम पंचक धारणा– इसमें पांचों सूक्ष्म आकाशों की अनुभूति अवचेतन तथा उसके परे जगत की होती है। ये पांच हैं–

- गुणरहित आकाश
- परमाकाश
- महाकाश
- तत्वाकाश
- सूर्याकाश

4. नादानुसंधान धारणा– स्थूल से सूक्ष्म आकाशों की अनुभूति अवचेतन तथा उसके परे ध्वनि कंपन की खोज धारणा का संपूर्ण भाग है जिसे नादानुसंधान कहते हैं। (धारणा दर्शन, पृ.423)

वसिष्ठ संहिता में वर्णित धारणा– इसमें पांच तत्वों की धारणा बतायी गयी है–

भूमिरापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च।
एतेषु पंचवर्णानि धारण धारणा स्मृताः।। 4/4

अर्थात पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश इनमें पांच बीज वर्णों (ल, व, र, य, ह) का चिंतन करना धारणा है। इसे इस प्रकार समझ सकते हैं–

महाभूत	स्थान	बीजाक्षर	देवता
पृथ्वी	पांव से जानु तक	लं	ब्रह्म
जल	जानु से मूलाधार तक	वं	विष्णु
अग्नि	मूलाधार से हृदय तक	रं	रूद्र
वायु	हृदय से भ्रूमध्य तक	यं	महत्
आकाश	भ्रूमध्य से ब्रह्मरंध्र तक	हं	अध्यवत

घेरण्ड संहिता के अनुसार – इसमें पंचतत्वों के आधार पांच प्रकारों की धारणा का उल्लेख है–

पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, अग्नि धारणा, वायवीय धारणा व आकाशी धारणा।

शिव संहिता तथा अन्य कई उपनिषदों में भी पंच तत्व के आधार पर पांच प्रकार की धारणा बतायी गयी है।

12.4.3 धारणा का परिणाम एवं महत्व–

धारणा से एकाग्रता बढ़ती है और एकाग्रता से अनेक कार्य संपन्न होते हैं क्योंकि हमारी मानसिक ऊर्जा एक बिन्दु पर होती है। आध्यात्मिक एवं लौकिक दोनों प्रकार के कार्यों के लिए धारणा आवश्यक है। स्वामी निरंजनानंद सरस्वती के अनुसार कोई भी छोटा से छोटा कार्य हो, उसे एकाग्रता से करने की आवश्यकता होती है। बिना एकाग्रता के हम कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते। जबकि एकाग्र मन वाला व्यक्ति कोई भी कार्य अधिक दक्षतापूर्वक कर सकता है। अतः दैनिक जीवन के साथ ही साथ आध्यात्मिक साधना के लिए धारणा आवश्यक है। हम मन की तुलना बल्ब से कर सकते हैं। एक बिजली के बल्ब का प्रकाश सभी दिशाओं में फैलता है, ऊर्जा बिखरती रहती है। आप उस बल्ब से पांच फुट की दूरी पर ताप का अनुभव नहीं कर सकते। यद्यपि उस बल्ब के मध्य स्थित फिलामेंट में पर्याप्त ताप विद्यमान होगा। इसी प्रकार मन में प्रच्छन्न रूप में अपरिमित शक्ति है परन्तु यह सभी दिशाओं में बिखरी हुई है जो धारणा से केन्द्रित होती है।

वशिष्ठ संहिता (4/11–15) में धारणा की महत्ता के सन्दर्भ में बताया गया है कि –

- पृथ्वी तत्व की धारणा से पृथ्वी तत्व पर विजय प्राप्त कर सकते हैं।
- जल तत्व की धारणा से रोगों से छुटकारा मिलता है।
- अग्नि तत्व की धारणा करने वाला अग्नि से नहीं जलता।
- वायु तत्व की धारणा से वायु के समान आकाश विहारी होता है।
- आकाश तत्व में पांच पल की धारणा से जीव मुक्त होगा और एक वर्ष में ही मल–मूल की अल्पता होगी।

12.5 ध्यान का स्वरूप

धारणा के पश्चात् ध्यान की प्रक्रिया आती है। जब धारणाभ्यासी देश–विशेष में मन को लगाते हुए मन को ध्येय के विषय पर स्थिर कर लेता है तो उसे ध्यान कहते हैं। यह समाधि–सिद्धि के पूर्व की अवस्था है। ध्यान अष्टांग योग का सातवाँ अंग है। पहले के छः अंग ध्यान की तैयारी के रूप में किए जाते हैं। ध्यान से आत्मसाक्षात्कार होता है। ध्यान को मुक्ति का द्वार कहा जाता है। स्वामी शिवानन्द ने कहा है– ''ध्यान मोक्ष का द्वार खोलता है''। ध्यान एक ऐसी प्रक्रिया है जिसकी आवश्यकता हमें लौकिक जीवन में भी है और अलौकिक जीवन में भी इसका उपयोग किया जाता है। ध्यान को सभी दर्शनों, धर्मों व संप्रदायों में श्रेष्ठ माना गया है। सभी योगी ध्यान की तैयारी स्वरूप अलग–अलग विधियाँ अपनाते हैं और ध्यान तक पहुँचकर लगभग एक हो जाते हैं। अनेक महापुरूषों ने ध्यान के ही माध्यम से अनेक महान कार्य संपन्न किए। जैसे– स्वामी विवेकानंद एवं भगवान बुद्ध आदि। भगवान कृष्ण ने भी गीता में एक अध्याय ही ध्यान के ऊपर बताया है। आत्मा के ध्यान से माया का तिरोधान हो जाता है।

12.5.1 ध्यान का अर्थ एवं परिभाषा–

ध्यान शब्द की व्युत्पत्ति ध्यैयित्तायाम् धातु से हुई है। इसका तात्पर्य है चिंतन करना। लेकिन यहाँ ध्यान का अर्थ चित्त को एकाग्र करना उसे एक लक्ष्य पर स्थिर करना है।

अतः, किसी विषय वस्तु पर एकाग्रता या 'चिंतन की क्रिया' ध्यान कहलाती है। यह एक मानसिक प्रक्रिया है जिसके अनुसार किसी वस्तु की स्थापना अपने मनःक्षेत्र में की जाती है। फलस्वरूप मानसिक शक्तियों का एक स्थान पर केन्द्रीकरण होने लगता है। यही ध्यान है।

महर्षि पतंजलि कहते हैं–

तत्र प्रत्यैकतानताध्यानम्।। पातंजल योग सूत्र 3/2

अर्थात पूर्वोक्त धारणा वाली वस्तु पर तैल धारावत् मन का एकाग्र हो जाना, ठहर जाना ही ध्यान है। अर्थात धारणा वाले स्थान या ध्येय की एक ही तरह की वृत्ति का प्रवाह गतिशील होना, उसके मध्य में किसी भी वृत्ति का न उठना ही ध्यान है। ध्यान से संबंधित विभिन्न व्याख्याकारों ने जो व्याख्या की है वह इस प्रकार है–

महर्षि व्यास के अनुसार– उन देशों में ध्येय जो आत्मा उस आलम्बन की और चित्त की एकतानता अर्थात आत्मा चित्त से भिन्न न रहे और चित्त आत्मा से पृथक न रहे उसका नाम है सदृश प्रवाह। जब चित्त चेतन से ही युक्त रहे, कोई पदार्थान्तर न रहे तब समझना कि ध्यान ठीक हुआ।

सांख्य सूत्र के अनुसार–

ध्यानं निर्विषयं मनः।। 6/25

अर्थात मन का विषय रहित हो जाना ही ध्यान है।

आदिशंकराचार्य के अनुसार –

अचिन्तैव परं ध्यानम्।।

अर्थात किसी भी वस्तु पर विचार न करना ध्यान है।

महर्षि घेरण्ड के अनुसार–

ध्यानात्प्रयत्क्षमात्मनः।।

अर्थात ध्यान वह है जिससे आत्मसाक्षात्कार हो जाए।

तत्वार्थ सूत्र के अनुसार–

उत्तमसघनस्येकाग्राचिन्ता निरोधो ध्यानगन्तमुहुर्वाति। –त.सू. 9/27

अर्थात एकाग्रचित्त और शरीर, वाणी और मन के निरोध को ध्यान कहा गया है।

गरूड़ पुराण के अनुसार–

ब्रह्मात्म चिन्ता ध्यानम् स्यात्।। अध्याय 18

अर्थात केवल ब्रह्म और आत्मा के चिन्तन को ध्यान कहते हैं।

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार–

सोऽहम् चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते।।

अर्थात स्वयं को चिन्मात्र ब्रह्म तत्व समझने लगना ही ध्यान कहलाता है।

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार–

सर्वशरीरेषु चैतन्येकतानता ध्यानम्।।

अर्थात सभी जीव जगत को चैतन्य में एकाकार होने को ध्यान की संज्ञा दी गयी है।

आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार– कोई आदर्श लक्ष्य या इष्ट निर्धारित करके उसमें तन्मय होने को ध्यान कहते हैं।

ध्यान की कुछ अन्य व्यावहारिक परिभाषाएँ इस प्रकार हैं –

- क्लेशों को पराभूत करने की विधि का नाम ध्यान है।
- ध्यान का तात्पर्य चेतना के अंतर वस्तुओं के अखण्ड प्रवाह होते हैं।
- अपनी अंतःचेतना (मन) को परमात्म चेतना तक पहुँचाने का सहज मार्ग है।
- बिखरी हुई शक्ति को एकाग्रता के द्वारा लक्ष्य विशेष की ओर नियोजित करना ध्यान है।
- मन को श्रेष्ठ विचारों में स्नान कराना ही ध्यान है।

12.5.2 ध्यान की विभिन्न तकनीकें–

प्राचीन भारतीय ग्रंथों में ध्यान की विभिन्न तकनीकों का वर्णन किया है; जो इस प्रकार है–

शांडिल्योपनिषद् में ध्यान दो प्रकार के बताए गए है–सगुण ध्यान और निर्गुण ध्यान सगुण इष्ट या मूर्ति का ध्यान है, जिससे मात्र सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

घेरण्ड संहिता में 3 प्रकार के ध्यान बताये गये हैं–

''स्थूलं ज्योतिस्तथासूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।

स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं सूक्ष्मं, बिंदुमयं ब्रह्म कुंडली परदेवता।।'' घे.सं. 6/1

अर्थात् स्थूल ध्यान, ज्योति ध्यान और सूक्ष्म ध्यान के भेद से ध्यान 3 प्रकार का होता है।स्थूल ध्यान वह कहलाता है, जिसमें मूर्तिमय इष्टदेव का ध्यान हो। ज्योतिर्मय ध्यान वह है, जिसमें तेजोमय ज्योतिरूप ब्रह्म का चिंतन हो। सूक्ष्म ध्यान उसे कहते हैं, जिसमें बिंदुमय ब्रह्म कुंडलिनी शक्ति का चिंतन किया जाए।

12.5.3 ध्यान का महत्व–

निजस्वरूप को मन से तत्वतः समझ लेना ही ध्यान होता है। ध्यान करते करते जब चित्त ध्येयकार में परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव सा हो जाता है। धारणा में केवल लक्ष्य निर्धारित होता है, जबकि ध्यान में ध्येय की प्राप्ति और उसकी प्रतीति

होती है। ध्यान के माध्यम से क्लेशों की स्थूल वृत्तियों का नाश हो जाता है। धारणा, ध्यान और समाधि तीनों को संयम कहा गया है। संयम की स्थिरता से प्रज्ञा की दीप्ति अर्थात् विवेकख्याति का उदय होता है। इसके अतिरिक्त पातंजल योग सूत्र में संयम से प्राप्त होने वाली अनेक अन्य सिद्धियों का भी उल्लेख हुआ है। विभिन्न स्थानों पर ध्यान की महत्ता का वर्णन किया गया है; जो इस प्रकार है–

गीता – ''यथा दीपो निवातस्थो नेगंते सोपमा स्मृता।

योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः।। 6/19

जिस प्रकार वायुरहित स्थान मे स्थित दीपक की लौ चलायमान नहीं होती, वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की कही गई है।

घेरंडसंहिता– '' ध्यानात्प्रत्यक्षं आत्मनः'' 1/11

ध्यान से अपनी आत्मा का प्रत्यक्ष हो जाता है। अर्थात – ध्यान के द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। इस प्रकार हम यह समझ सकते है कि ध्यान का योग साधना हेतु क्या महत्व है।

ध्यान एक विज्ञान है जो हमारे शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास में हमारी सहायता कर हमें अपने संपूर्ण अस्तित्व का स्वामी बनाने में सक्षम है। मानव में विभिन्न शक्तियों का समुच्चय उपलब्ध हैं। प्रत्येक शक्ति के विकास के अपने विधि–विधान हैं। इन सभी शक्तियों का संगम ही हमारा जीवन है। जब हम ध्यान का अभ्यास शुरु करते हैं तब हम अपने अस्तित्व और अपने व्यक्तित्व के प्रत्येक आयाम के विकास की प्रक्रिया में गतिशीलता लाते हैं। ध्यान के द्वारा सूक्ष्म मन के अनुभवों को स्पष्ट किया जाता है। जैसे–जैसे हम अपने भीतर, सूक्ष्म अनुभवों को जानने में सक्षम होते जाते है हम अन्तर्मुखी होते हैं, यह आत्मसाक्षात्कार की अवस्था है। आत्म साक्षात्कार का तात्पर्य यहाँ पर सीधा ईश्वर से सम्वन्ध नहीं, वरन् स्वयं के अनुसंधान से है। ध्यान अपने आपको पहचानने की प्रक्रिया है, स्वयं का साक्षात्कार होना, स्वयं को जानना ध्यान के द्वारा ही संभव है। ध्यान प्राचीन, भारतीय ऋषि–मुनियों, तत्तवेत्ताओं द्वारा प्रतिपादित अनमोल ज्ञान–विज्ञान से युक्त एक विशिष्ट पद्धति है, इसके द्वारा मनुष्य का समग्र उत्थान, विकास, उत्कर्ष संभव है।

अभ्यास प्रश्न–

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार प्रत्याहार है–
   क. विषयों के संबंध से रहित होने पर इंद्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार
   ख. इंद्रियों के संबंध से रहित होने पर विषयों का चित्त के स्वरूप में तदाकार
   ग. इंद्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार
   घ. विषयों का चित्त के स्वरूप में तदाकार
2. महर्षि पतंजलि के अनुसार धारणा का फल है –
   क. चित्त को स्थिर करना
   ख. देश को स्थिर करना
   ग. देश विशेष में चित्त को स्थिर करना
   घ. मुक्ति को स्थिर करना

3. महर्षि पतंजलि के अनुसार धारणा अष्टांग योग का अंग है –
   क. चौथा
   ख. छठा
   ग. पाचंवा
   घ. सातवां
4. महर्षि पतंजलि के अनुसार ध्यान अष्टांग योग का अंग है –
   क. चौथा
   ख. दूसरा
   ग. पहला
   घ. सातवां
5. महर्षि पतंजलि के अनुसार प्रत्याहार अष्टांग योग का अंग है –
   क. सातवां
   ख. दूसरा
   ग. पाचवां
   घ. चौथा

12.6 सारांश

प्रत्याहार बहिरंग योग एवं अंतरंग योग के बीच की कड़ी है। प्रत्याहार से इंद्रियाँ अंतर्मुखी हो जाती हैं अतः पूरी इंद्रिया इसके अभ्यास से वश में हो जाती है। अर्थात् तब योगी जितेन्द्रिय हो जाता है। यह चित्त के निरोध होने पर ही संभव हो पाता है। अतः तब इंद्रिय की परम वश्यता हो जाती है। तत्पश्चात् धारणा हेतु मन की योग्यता हो जाती है। धारणा एकाग्रता का रूप है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार के द्वारा चित्तवृत्ति की चंचलता संयमित कर उसे शरीर के अंदर या बाहर के किन्ही भी पदार्थो में इस तरह से आबद्ध हों जिससे कि वृत्ति मात्र से उसी स्थान–विशेष में एकाग्रता पूर्वक स्थित हो जाए अन्यत्र कही न जाए, यही धारणा है स्वामी ओमानंद कहते हैं ''वृत्ति ध्येय के विषय के तदाकार होकर स्थिर रूप से उसके स्वरूप को प्रकाशित करने लगती है'' अर्थात् ध्येय विषय से वृत्तिमात्र से चित्त बाधना, ठहराना धारणा है। प्रत्याहार एवं धारणा द्वारा मन की एकाग्रता और स्थिरता में वृद्धि होती है और यह योग साधक के अंतःकरण को पवित्र और उच्चस्तरीय संवेदनाओं के ग्रहण योग्य बनाते है। जिससे कि योग साधना में रत साधक उच्च सोपानों की प्राप्ति हेतु स्वयं को योग्य बनाते हैं। धारणा में केवल लक्ष्य निर्धारित होता है, जबकि ध्यान में ध्येय की प्राप्ति और उसकी प्रतीति होती है। ध्यान करते करते जब चित्त ध्येयकार में परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूप का अभाव सा हो जाता है। ध्यान एक ऐसा अभ्यास है जिसके माध्यम से अभ्यासकर्ता की अन्तःदृष्टि विकसित होती है और विवेकज्ञान की प्राप्ति होती है, इस निश्चल और निर्दोश विवेकज्ञान की प्राप्ति होने पर समस्त दुखों का अभाव हो जाता है। स्वामी विवेकानन्द ज्ञान प्राप्ति में ध्यान की महत्ता का वर्णन करत हुये कहते हैं कि समस्त ज्ञान ध्यान का ही सुफल है। निष्काम कर्मयोग व्यक्ति को ध्यान के लिए सुपात्र बनाता है और ध्यान से उसे ज्ञान होता है। वह ज्ञान के लिए ध्यान और एकाग्रता का अभ्यास बताते हुये कहते हैं कि ज्यों–ज्यों ध्यान और एकाग्रता से

चित्त शुद्ध, निर्दोष और निश्चल होता जाता है, तदनुरूप उसमें विवेकज्ञान प्रकट होता जाता है।

12.7 परिभाषिक शब्दावली

विषयाभिमुख– इन्द्रियों का अपने विषयों से दूर हो जाना।

वश्यता– मन का अपने वश में हो जाना।

अप्रवृत्ति– प्रवृत्ति अर्थात् आदत अप्रवृत्ति अर्थात् आदत से मुक्ति।

विजित– जीती हुयी।

अंतर्मुखी– बाहर के विषयों से आकृषण हटाकर आन्तरिक जगत में प्रवेश करना।

देश– अपनी एकाग्रता को एक स्थान पर केन्द्रित करना।

आबद्ध– अपनी एकाग्रता को एक स्थान पर बांधना।

प्रत्यक्ष– अपने इष्ट आराध्य का साक्षात्कार होना।

12.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर– 1. ख, 2. ग, 3. ख, 4. घ, 5. ग।

12.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, सांख्य दर्शन एंव योग दर्शन, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, वेद विभाग, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार, 2000.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, 108 उपनिषद्, ज्ञानखण्ड, ब्रहमविधा खण्ड, साधना खण्ड, वेद माता गायत्री ट्रस्ट, शांतिकुन्ज, हरिद्वार,1992.
- आचार्य राजवीर शास्त्री, पांतजल योगदर्शन– भाष्यम्, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, 455, खारी बावली, दिल्ली–6.
- आरण्य स्वामी हरिहरानन्द, पांतजल योगदर्शनम्, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली,2000.
- कुमारी पवन, विज्ञानभिक्षु प्रणीत योगसारसंग्रह, ईस्टर्न बुक लिकंर्स, दिल्ली,1981.
- चन्द्र त्रिलोक, पांतजलयोग और श्री अरविन्दयोग, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली,1992.
- तीर्थ श्रीस्वामी ओमानन्द, पांतजलयोगप्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर,2005.
- नन्दलाल दशोरा, पातंजल योग सूत्र, रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार,2006.
- विवेकानन्द स्वामी, विवेकानन्द साहित्य, खण्ड–1, स्वामी स्वानन्द, अद्वैत आश्रम, मायावती, पिथैरागढ़–पुनमुद्रित, 2000.
- सरस्वती स्वामी दिव्यानन्द, वेदों में योग विद्या, यौगिक शोध सस्थांन, योगधाम, आर्यनगर, हरिद्वार,1999.
- सरस्वती स्वामी सत्यानन्द, मुक्ति के चार सोपान, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार,1994.

- गोयन्दका जयदयाल, श्रीमद्भगवद्गीता तत्व–विवेचन, हिन्दी टीका, गीताप्रेस गोरखपुर,2005.
- सरस्वती स्वामी सत्यानन्द, घेरण्ड संहिता, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार प्रथम संस्करण,1994.
- दिगम्बर स्वामी, झा ड़ां पीतरम्बर, हठप्रदीपिका, स्वात्माराम कृत , कैवल्यधाम श्रीमन्माधव योगमन्दिर समिति, लोनावाला–410403.
- स्वामी निरंजनानंद सरस्वती, धारणा दर्शन, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार.
- स्वयमी शिवानन्द, मन का रहस्य एवं निग्रह, शिवानन्द आश्रम, ऋषिकेश, टिहरी गढ़वाल, उत्तराखण्ड.

12.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामाग्री

- तीर्थ श्रीस्वामी ओमानन्द, पांतजलयोगप्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर.
- सरस्वती स्वामी सत्यानन्द, मुक्ति के चार सोपान, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार.
- गोयन्दका हरिकृष्णदास, पातंजल योग दर्शन, (साधारण हिन्दी–व्याख्या सहित), गीता प्रेस, गोरखपुर.
- पण्डया डॉ. प्रणव, अर्न्तजगत की यात्रा का ज्ञान विज्ञान, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुन्ज, हरिद्वार.
- शास्त्री दुण्ढिराज, योगसूत्रम्, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी.
- द्विवेदी, प्रतिभा, योगप्रतिभा, राधा पब्लिकेंशन्स, नई दिल्ली.
- श्रीवास्तव सुरेशचन्द्र, पांतजलयोगदर्शन, चौखम्मा सुभारती प्रकाशन, वाराणसी.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, यम–नियम, श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुंज, हरिद्वार.
- आचार्य, पं. श्रीराम शर्मा, पतंजलि योग की तत्व साधना, श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुंज, हरिद्वार.

12.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. महर्षि पतंजलि के अनुसार प्रत्याहार के सन्दर्भ में विस्तृत व्याख्या करें।
2. महर्षि पतंजलि के अनुसार धारणा के सन्दर्भ में विस्तृत व्याख्या करें।
3. महर्षि पतंजलि के अनुसार ध्यान के सन्दर्भ में विस्तृत व्याख्या करें।
4. महर्षि पतंजलि के अनुसार प्रत्याहार के महत्व को स्पष्ट करें।
5. महर्षि पतंजलि के अनुसार धारणा के महत्व को स्पष्ट करें।
6. ध्यान के महत्व को स्पष्ट करें।